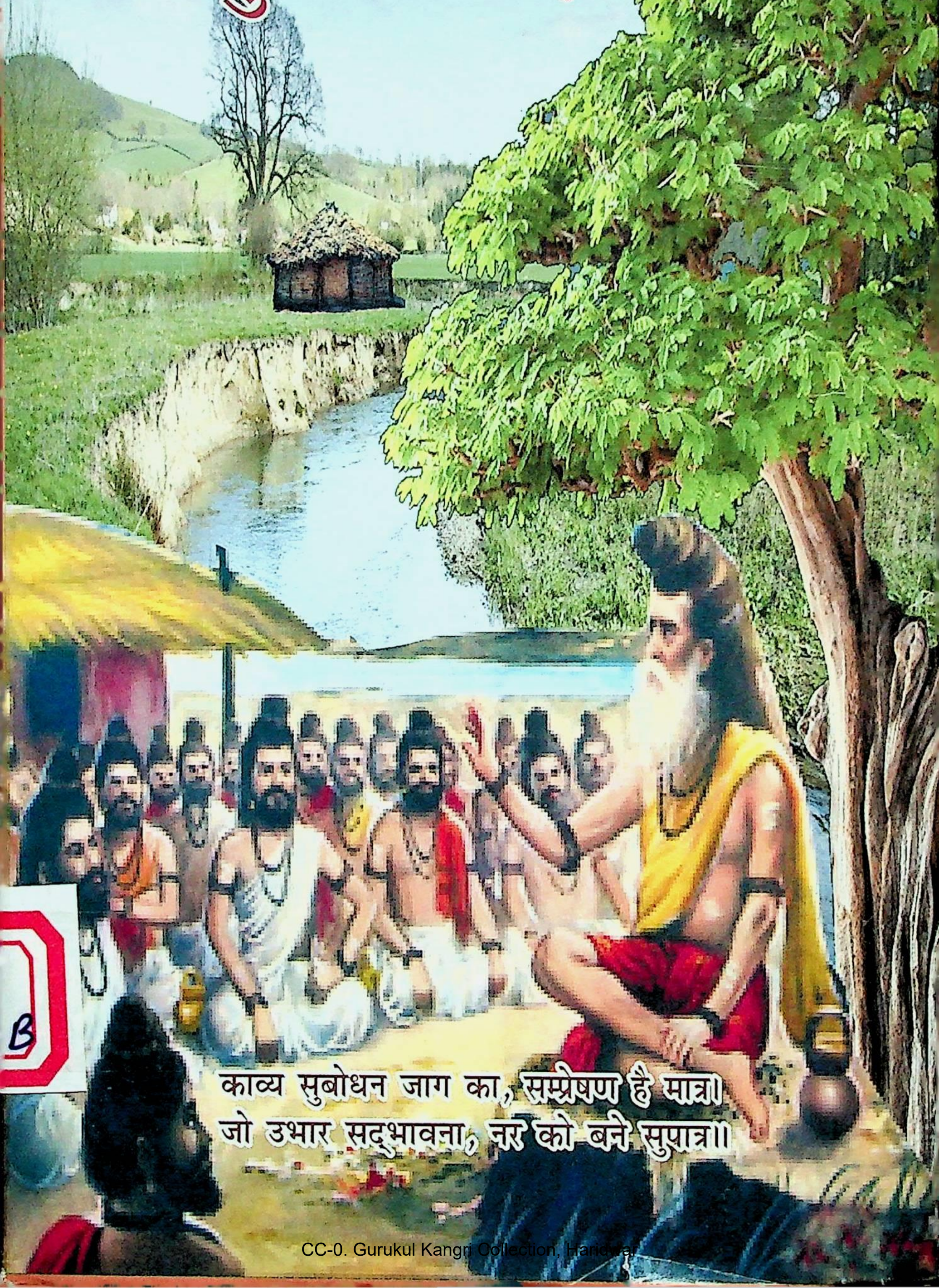
सुबोधन

डॉ॰ बुद्धि प्रकाश शर्मा



काव्य सुबोधन जाग का, सम्प्रेषण है मात्र।
जो उभार सद्भावना, नर को बने सुपात्र।।

सुबोधन

(बोध-काव्य)

डॉ॰ बुद्धि प्रकाश शर्मा

जन्म	:	२० नवम्बर १९४६, प्रातः ९.३०; ग्रा॰-कतियावली, जनपद-बुलन्दशहर, उ.प्र.
माता-पिता	:	स्व. ब्रह्मा देवी शर्मा, स्व. पूर्ण चन्द्र शर्मा
बहिन	:	श्रीमती माया देवी शर्मा, श्रीमती धनवती शर्मा, श्रीमती सन्तोष कुमारी
अनुज	:	डॉ. राजेन्द्र कुमार शर्मा
शिक्षा	:	एम.एस-सी. (भौतिकी, गणित); एम.एड्.; एम.फिल. (शिक्षाशास्त्र); पी-एच.डी. (शिक्षाशास्त्र)
विधा	:	दोहे, गीत, कविता।
कृतित्व	:	'मैं'मैं'हूँ'; 'अविकल्प'; 'कर्म-बोध'; 'अनुभूति'; 'सन्धार्य'; 'सञ्चेतना'; 'सुबोधन' के अतिरिक्त विभिन्न संकलनों एवम् पत्र-पत्रिकाओं में समय-समय पर रचनाएँ प्रकाशित।
सम्प्रति	:	रीडर, पूर्व अध्यक्ष, शिक्षाशास्त्र-विभाग, वर्धमान कॉलेज, बिजनौर (उ.प्र.)।
सम्पर्क	:	३१५-नई बस्ती, बिजनौर (उ.प्र.); पिन : २४६७०१
दूरभाष	:	०१३४२-२६३९३६

काव्य सुबोधन जाग का, सम्प्रेषण है मात्र।
जो उभार सद्भावना, नर को बने सुपात्र।।

*** सुबोधन ***

अद्भुत है 'सुबोधन'—

विगत महीनों में साहित्यिक कार्यों से दूरी रहने के कारण एक मनस्रिक्तता की अनुभूति के मध्य सौभाग्यवश डा॰ बुद्धिप्रकाश शर्मा से साहित्यिक टिप्पणी पाने हेतु निवेदन के साथ उनकी नवीनतम प्रकाश्य काव्यकृति **'सुबोधन'** की पाण्डुलिपि प्राप्त हुई। इससे पूर्व डॉ॰ शर्मा जी की छः दोहा-कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। वस्तुतः ये ऐसी रचनाएँ हैं जिनका पाठकों पर गहन सकारात्मक प्रभाव पड़ा है। मैं स्वयम् इसका प्रमाण हूँ। इन कृतियों में मानव कल्याण की भावना न्यूनाधिक समान अभिव्यक्ति में प्रस्तुत हैं; किन्तु प्रस्तुत कृति **'सुबोधन'** स्पष्टतः भिन्नतायुक्त है। इसमें गीतों कविताओं, भजनों, मुक्तकों का भी संकलन है जिन्होंने काव्य की श्रीवृद्धि की है। इस रचना में कवि की प्रतिभा, अपने चरमोत्कर्ष पर आसीन है। कवि के हृदय की विशालता, निश्छलता, भक्ति-भावना, भाव-विह्वलता, काव्य-कला, शब्द-भण्डार, युगबोध, लोक-कल्याण की भावना के दर्शन इस कृति में प्रत्येक कथन-भाव में होते हैं। कवि संसार को प्रपञ्चों का असीम वन मानता है। जिसमें कुकर्मोंवश अज्ञान के अन्धकार में मनुष्य फँस जाता है। मेरे विचार से इसी अन्धकार के जीवन में मंगल-ज्योति जगाने वाली यह कृति सुमंगल दीप है, जो उपनिषद् के निम्नांकित वाक्यों की ओर संकेत करती है– असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय......

मनुष्य स्वच्छन्द कामनाओं व वासनाओं की स्वार्थपूर्ति को परमोद्देश्य बनाकर अन्य जीवात्माओं के साथ लज्जाजनक क्रूर व्यवहार करने लगता है, परिणामतः दुखों के संसार में जीवन व्यतीत करना उसकी नियति बन जाती है। इसी नियति को परिवर्तित करने तथा सार्थक बनाने वाले सहज उद्गार प्रस्तुत कृति में समाहित हैं। वर्तमान में असंयत विषय-भोग की मानसिकता, फलतः वैयक्तिक, सामाजिक, चारित्रिक, सांस्कृतिक ह्रास की अवस्था कवि को दृष्टिगत होती है जिसमें मनुष्य में सुख सन्तोष स्वप्न जैसा प्रतीत होता है। विकृत मनोस्थिति के कारण अतृप्ति, असन्तोष, भोग-लिप्सा की मात्रा में वृद्धि की दशा का निरूपण करना भी कृति **'सुबोधन'** का एक सचेत कोमल प्रयास है। मनुष्य के दैनिक जीवन में सामान्य जीवन मूल्य, एवम् गुणों की प्राप्ति में यह कृति अपनी सफलता का संकेत देती है। प्रत्येक प्रकार के सदाचार से जड़ चेतन को सुख शान्ति में रखने तथा ईश्वर अनुभूति कराने में **'सुबोधन'** प्रमुख भूमिका निभाने की योग्यता प्रदान करने वाली कृति है। कृति का प्रत्येक शब्द मानव कल्याण हेतु उद्यत प्रतीत होता है। कृति का वास्तविक उद्देश्य मनुष्य में स्वानुभूति की समझ विकसना तथा तद्नुसार निज क्रियाओं को संयमित करके आनन्दमय जीवन की प्राप्ति हेतु परिस्थितियों के सृजन की योग्यता उभारना है। कृति के मुखपृष्ठ पर अंकित दोहा इसी ओर संकेत करता है।

मेरे सज्ञान में है कि डॉ॰ शर्मा जी दस हजार पाँच सौ से अधिक दोहों का सृजन कर चुके हैं; यद्यपि उनका कथन है कि परोक्षतः सृजन का यह विपुल कार्य भगवान् श्री सत्य साई बाबा द्वारा ही किया गया है। वस्तुतः डॉ॰ शर्मा का काव्य सृजन सम्बन्धी यह भाव सर्वदा पूज्यों के चरण कमलों में समर्पित श्रद्धा सुमन हैं।

काव्य सृजन के प्रयोजनों की उल्लेख निम्नलिखित शब्दों में संस्कृताचार्य श्री मम्मट जी ने किया है–

काव्यम् यशसेऽर्थकृते, व्यवहार विदेशिवेत रक्षतये। सद्यः पर निवर्तये, कान्ता सम्मितयोपदेश युजे॥
अर्थात् कवि यश, अर्थ, व्यवहार सीखने सिखाने, शिव की रक्षा, शीघ्र दुखों के निवारण, रसास्वादन तथा कान्ता सम्मित उपदेश देने हेतु काव्य सृजन करता है। इस सन्दर्भ में कवि डॉ॰ शर्मा जी के अत्यन्त निश्छल विचार हैं कि उक्त सम्पूर्ण काव्य सृजन मात्र जनचरित्र सम्वर्धन द्वारा जनकल्याण भाव से प्रस्फुटित है, किन्तु सदाचरण का पाठ सिखाने वाली इस सम्पूर्ण प्रस्तुति का स्वान्तः सुखाय होना स्वाभाविक है क्योंकि परान्तः सुख की दृष्टि में स्वान्तः सुख अनुभूति सदैव विद्यमान रहती है। काव्यकला की दृष्टि से दोहा छांदिस शैली की प्रस्तुत अभिव्यक्ति में डॉ॰ शर्मा ने 'गागर में सागर' भर दिया है जिसमें अर्थगाम्भीर्य को समेटने में प्रत्येक दोहा सफल है; अर्थात् डॉ॰ शर्मा पूर्णतः सफल एवम् सिद्धहस्त कवि हैं।

निर्विघ्न पूर्ण हो, इस भाव से कृति का प्रारम्भ, कवि ने मंगलाचरण जैसी व्यवस्था **'नित्य नमस्य'** द्वारा देकर की है, जिसमें सत्य तत्त्व ब्रह्म राम कृष्ण, सत्य साई हैं, जिनको

सर्वप्रथम प्रणाम करते हुए माँ, भू-माँ, गौ माँ, पिता का हृदय-स्पर्शी भाव में स्मरण किया है तथा प्रभु से पुन: प्रार्थना की है कि मुझमें अपने प्रति ऐसा आतुरभाव भर दें जैसा शिशु में माँ के प्रति होता है–

शिशु माँ से पल का नहीं, सहता जस अलगाव। अपने प्रति मुझमें भरें, प्रभु अस आतुर भाव॥

प्रस्तुत कृति दो खण्डों में विभाजित है। प्रथम खण्ड **'सुखाधार अपनत्व'** में कवि का भक्त हृदय ईश भजन को मानव हेतु सुरक्षा कवच जानते हुए गा उठता है–

'भजन बिन अन्तर तम न हटे'; 'धरम कीऽ होती धुरी दयाल'; धोखाऽ झूठा जग का खेल'

कृति के इस खण्ड में पद, गीत, भजन, मुक्तक कवित्व मनोहर सुन्दर व मधुर लय-प्रधान, कोमल कान्त छन्दों में हृदय-स्पर्शी हैं; जो न केवल भक्ति-भावना वरन् सामाजिकता से भी ओत-प्रोत हैं। मुक्तकों की छिटकी छटा कविकला की अद्वितीय सूक्ष्म पहुँच की प्रतिभा को इंगित करती है। इस खण्ड की अन्तिम रचनाओं में जीवन को स्वर्ग बना सकने की सहज प्रस्तुति है। वस्तुत: यह भाग काव्यकृति का प्राण है; इसके लेखन में कवि का व्यक्तित्व झलकता है, जिसमें हृदय की विशालता, निश्छलता तथा साहित्य साधना का चरमोत्कर्ष है। राष्ट्र, समाज की विकृतियाँ, दु:ख सागर में डूबे समाज की आर्तपुकार, जीवन की विडम्बना, अत्याचार, भ्रष्टाचार तथा सामाजिक विषयों पर विचार-चित्रण ही नहीं, सामान्य कहावत को उपमान बनाकर भी कवि ने व्याप्त दैनिक चुभन को भी शब्द दिये हैं–

'जैसी नकटी देवी है, वैसे हि ऊत पुजारी हैं; शोषण के खूनी पज्जे नित नित बढ़ना जारी हैं।

प्रश्नवाचक शैली में सामाजिक जीवन की विडम्बना का चित्रण भी दर्शनीय है–

'इस किताब के सारे पन्ने कोरे क्यूँ हैं। अन्दर से गहरे काले भी गोरे क्यूँ हैं'।

कृति के द्वितीय खण्ड में समस्त सामाजिक व वैयक्तिक कर्म-आयामों को आठ वर्गों में विभक्त किया गया है। प्रथम वर्ग **'ब्रह्म-तत्त्व सम्पूर्ण'** में व्याप्त ब्रह्म तत्त्व की पहिचान कराई गई है जैसे–

हैं सागर की बूँद में, गुण समस्त विदमान। तस तन में, तन बाहरे, सरल देख! भगवान्॥

कृति के द्वितीय वर्ग **'करें सर्व-प्रिय मात्र'** में संग्रहीत दोहे समाज को सात्त्विक प्रेम का पाठ पढ़ाते हैं, जिनमें सद्गुण, सदाचार, सत्संग के बहुमुखी सौन्दर्य की आभा ज्योतित है, यथा–

सदाचार ही दे बना, सर्वकृपा का पात्र। अपना! जीवन का यही, अर्थशास्त्र है मात्र॥

'बल जो दें साफल्य' भाग में कर्म-सफलता एवम् बहुमुखी विकास में कर्म की शैलियों यथा साहस, लगन, धैर्य, उत्साह, संयम, एकाग्रता, संकल्प, सान्त्वना आदि सकल की प्रचण्ड बल के रूप में भूमिका, प्राण फूँकने के समान स्पष्ट की गई है–

बन सशक्त संकल्प का, रख दृढ़ इच्छाशक्ति/साहस उमग समर्थता, विकसे तब अभिव्यक्ति॥
बहे आत्म-विश्वास से, अतुल शक्ति की धार। तब प्रचण्ड पुरुषार्थ हो, करे सिन्धु भी पार॥
सभी प्रयासों में करें, ओजस्वी सञ्चार। आत्म-शक्ति जाग्रत रखें, हार सके तब हार॥

'निरा स्वार्थ घिन पाव' वर्ग में कवि ने स्वार्थ -सिद्धि की घोर भर्त्सना की है कवि मत में लोक-प्रेम में निस्स्वार्थता नहीं, स्वार्थी व्यापार छिपा होता है। स्वार्थ परार्थ के प्राय: सभी पक्षों को उजागर करते हुए निष्कामता की मन:-स्थिति बनाये रखने का कवि ने सन्देश दिया है। स्वार्थ में तत्काल लाभ का लोभन रोगी, पापी तो बनाता ही है, मृत्यु भी दे सकता है, की ओर कवि ने स्पष्ट वर्जना भी दी है–

अन्धा हो अति स्वार्थ में, पाता बहु आघात। क्योंकि विवेक विनाश का, तब यह बहे प्रपात॥
टूट पड़े लख चासनी, माखी पाती काल। मिटे द्वार तस लोभ के, चहे लाभ तत्काल॥

प्रस्तुत कृति के वर्ग **'तृष्णा नहिं, सुख तोष'** में कवि विस्तार से निरूपित करते हैं कि तृष्णा स्वार्थपूर्ति की ललक की जननी है, परमानन्द की समाप्ति करती है। अनियन्त्रित अभिलाषायें अभिशाप बन जाती हैं। भोग-विलास व परिग्रह की तृष्णा में वृद्धि से समाज परिवार में कलह, अधर्म, कुकर्म, अत्याचार, व्यभिचार, असीमता पाने लगते हैं। सारान्श में इस वर्ग की काव्य सामग्री बोध कराती है कि सुख तृष्णा पूर्ति के प्रयासों में नहीं सन्तोष में है, तृष्णा कभी तृप्त नहीं होती है–

दोषों को ढोये फिरे, अनगिन करे कुकर्म। फिर भी तृष्णा का भरे, पेट, न पावे शर्म॥

कृति के **'विकसे अन्तः दृष्टि'** विभाग में उन स्थितियों की ओर मानव ध्यान आकर्षित किया गया है जो मनोशक्तियों का, अन्ततः मानवशक्तियों का विकास करती हैं। मानवशक्तियों को तार्किक, प्रखर, कुशाग्र और सद्‌मुख करने हेतु, मानवभावों को उत्कर्ष पर पहुँचाने हेतु डॉ॰ शर्मा के प्रयास सहज ही अत्यन्त प्रेरक हैं–

मानें जानें या कहें, भद्र भले नहिं, लोग। चित पर, नीके भाव का, जीता मुदित सुयोग॥
करें सदा औचित्य में, प्रतिभा का उपयोग। पाते सभी प्रकार से, मान सुफल वे लोग॥
उदित हृदय में शान्ति हो, मन में पवित प्रकास। स्वतः सुगुण लख और के, निज गुण पाव विकास॥
चिन्तन में उत्कृष्टता, रखना कृत आदर्श। मात्र यही अध्यात्म है, जीवन हित सत् मर्श॥

'पा पग- दृष्टि सतर्क' वर्ग में सम्मिलित जीवन विस्तार से जुड़े प्रत्येक दोहे में कवि डॉ॰ शर्मा ने उन सुपथों की ओर जागृति प्रदान की है जिनके द्वारा प्रायः प्रत्येक उठते पग के लिये सतर्क दृष्टि प्राप्त होती है। कवि की पैनी दृष्टि प्रायः प्रत्येक समस्या को उत्पन्न करने वाली स्थितियों तक पहुँची है, यथा–

देना धन ऐश्वर्य के, कारण उसको मान। भ्रष्ट वृत्तियों को जने, सो तज रे यह बान॥
चुप घूँसा खा भी रहे, उससे रहें सतर्क। क्षमा कभी करती नहीं, उसकी अन्तः कर्क॥
कभी किसी से चाहता, करना कुछ भी प्राप। नीचा ला तब स्वयम् को, बन भी कभी न बाप॥
व्याकुल थितियाँ जो करें, दें नित चोट तनाव। हट विदूर उनसे जहाँ, रिस न सकें मन-घाव॥

प्रस्तुत कृति के अन्तिम शीर्षक **'रचें सर्व-कल्याण'** में मत्स्य-न्याय, विपिन-विधान को वर्जित मानते हुए रचनात्मक लोकोपकारी कार्य करने की आभा स्पष्ट है जो मलय पवन की भाँति सुन्दर मधुर सुगन्ध विस्तारित करते हैं। कवि मत में चित में विकासात्मक विचारों का वास होना चाहिये, क्योंकि मनुष्य की उन्नति अवनति उसकी स्वयम् द्वारा रचित परिस्थितियों पर निर्भर है–

उन्नत अवनत स्वयम् को, करता स्वयम् पुमान्। चुन थितियाँ गढ़ता वही, क्योंकि स्वहित सोपान॥
पा सकता, दे भी सके, जग-भर को सुख नन्द। चल उस पथ पर सत्य के, जिसमें एक न द्वन्द॥

विज्ञान विषय की शैक्षिक पृष्ठभूमि होते हुए डॉ॰ शर्मा की साहित्य प्रतिभा अपने चरमोत्कर्ष पर है। उन्होंने अपनी रचनाओं में सर्व-कल्याण में निज-कल्याण का विश्वास प्रसारित किया है–

जो हड़पे पर स्वत्व को, नृप भी है वह रङ्क। अधिप परम पर, ले लगा, जो दुखियों को अंक॥

डॉ॰ शर्मा जी की काव्य कला, कला के लिए नहीं है वरन् यह मनुष्य-जीवन के लिये है। कवि ने इस काव्य सागर में काव्य के गुण, ओज, प्रसाद, माधुर्य को लाने का सफल प्रयास किया है। सामान्य जीवन के उपमा, उपमान, उक्तियों-सूक्तियों, कहावतों-मुहावरों से योग्य मणि-काञ्चनों का सृजन, कवि की काव्य कला की विशेषता है। कवि की काव्य अलंकारिकता के दर्शन करते हुए सुबोधन प्राप्ति हेतु निम्नांकित दोहा पर्याप्त है–

भारत भा-रत था कभी, लख पर क्यों भाहीन। क्योंकि उरस् सब हो गये, अपचारों में लीन॥

प्रस्तुत काव्य में विभिन्न अलंकार जानबूझकर बलात् प्रयोग नहिं हुए हैं अपितु सहज स्वाभाविक रूप से विषय को बोधगम्य बनाने हेतु कवि ने उनका सुन्दर प्रयोग किया है। मेरा स्वयम् का अनुभव है कि हिन्दी भाषा के सुविज्ञ पाठकों हेतु यह ग्रन्थ सद्‌ग्रन्थ सिद्ध होगा। अन्त में यह कहना आवश्यक है कि प्रस्तुत कृति के पाठक शुद्ध प्रबुद्ध अविरुद्ध भावना से काव्य की गहराई में उतरकर रसास्वादन करें, तब निश्चय ही जीवन के प्रत्येक पक्ष की सच्चाई की अनुभूति कर सकेंगे। मैंने कवि के सम्पूर्ण साहित्य को समझा है जो मानव जीवन को प्रत्येक दृष्टि से उत्कर्ष की ओर ले जाने वाला है। कवि डॉ॰ शर्मा जी को सर्व कल्याण की मनुष्य में भावना प्रसारित करने के प्रयास हेतु अगिन साधुवाद।

–डॉ॰ ओमदत्त आर्य
मो॰नं॰ : ९४१२६३५५८७

भाव-प्रवाह—

पूर्व मानवीय जन्मों में किये गये सौभाग्यशाली कर्मों की परिणति ही, वर्तमान मानव देह को जीव द्वारा प्राप्त करना है; जो स्पष्ट सन्देश देता है कि श्रेष्ठ कर्म केवल मानव-जन्म ही नहीं देवत्व व ईश्वरत्व भी सहज ही प्रदान करा सकते हैं जो कि समष्टि में जीव द्वारा अपने उद्भव की सर्वोत्तम अन्तिम स्थिति पाना है। किन्तु विदित हो कि कर्म, व्यक्ति-रूप जीव को संसार में रहते हुए करने होते हैं, तथा संसार का अर्थ ही नहीं व्यवहार भी 'लौकिक-प्रपंच' होता है अर्थात् छल, कपट, झूठ, पाप, अपराध, सभी प्रकार की जघन्य कुटिलताएँ एवम् क्रूरताएँ; अन्ततः स्वार्थपूर्ति में सभी प्रकार के आडम्बर और अन्याय संसार है। अज्ञानवश इसी संसार को कर्माधार बनाकर, मनुष्य इन्हीं संसारी वृत्तियों में आजीवन रमा रहकर, अपने प्रारब्ध में दुष्परिणितियाँ सञ्चित करता है। परिणामतः वर्तमान जीवन में सुख शान्ति के लिये किये गये ये कर्म सुख शान्ति नहीं दे पाते और भविष्य हेतु पुनर्पुन असंख्य अधम-योनियों में युगों-युगों हेतु धकेल देते हैं। अतः संसार रूपी इन आघाती परिस्थितियों से परे मनुष्य को सदाचार, मर्यादा, संयम, कर्तव्य, दायित्व, करुणा, प्रेम, उदारता, क्षमा सम्वेदनशीलता, षड्विकार रहित अन्तःशुचिता, सर्वकल्याण की सद्भावना आदि से प्रतिबद्ध करके उत्कृष्ट श्रेष्ठ जीवन बरतने हेतु उद्यत करना परमावश्यक है। इस हेतु मनुष्य के समक्ष ऐसी प्रस्तुति आवश्यक है जो उसे जागृति प्रदान कर स्वयम्-कल्याण व जनकल्याण के प्रकाशित-पन्थों पर चलने की सोच देकर उसमें मानवीय धर्म की दृष्टि का समावेश करा सके। इस हेतु की पूर्ति में, जोकि मानव जीवन न केवल स्व-मंगल वरन् समष्टि-मंगल की उत्कृष्टता प्राप्त कर सके, का मंगल जागृति प्रदान करने वाला सुहृदय दीप है प्रस्तुत कृति– '**सुबोधन**'।

मानव में जड़ जीवन के प्रति सकारात्मक दृष्टि का शनैः शनैः विकास हुआ। तदनन्तर संस्कृति, विकास के सर्वथा उच्चतम स्तर तक अनेक बार स्थापित हुई और पतन के गर्त में भी समा गई। आज पुनः संस्कृति अपने पतन के गर्त में पहुँच गई है। समाज में प्रायः प्रत्येक व्यक्ति द्वारा वह कर्म किये जा रहे हैं जो अपनी स्वच्छन्द कामनाओं और वासनाओं को पूर्ण करने हेतु अन्य व्यक्तियों, जीवों एवम् प्रकृति का लज्जाजनक स्तर तक क्रूर शोषण कर रहे हैं, यहाँ तक कि अत्यल्प अप्राकृतिक सिद्धि के लिये पर-प्राण-हनन सामान्य बात हो गयी है। किसी से भी मर्यादाओं की आशा करना स्वयम् को भयंकर कठिनाइयों में डालना है। अतः स्वार्थ व वासना विषयक कुटिलताओं के विकारी व्यवहारों से मनुष्य व समाज को होने वाले सन्तापों तथा पराहित कर्मों से उत्पन्न मानवता की संज्ञाशून्यता को उबारने हेतु यथार्थपूर्ण सहज उद्गार है प्रस्तुत कृति– '**सुबोधन**'।

मनुष्य व्यक्तित्व के बहुल आयाम हैं। प्रायः प्रत्येक को ही भौतिक सभ्यता के आकर्षणों ने विभिन्न रूप से धूर्त-मन देकर प्रभावित किया है। मानवतावादी संस्कृति, पदार्थवादी और कामुकतावादी वैचारिकी की ओर पूर्णरूपेण खिसक गई है। असंयमित विषय भोग की मानसिकता विकराल स्थिति में है। परिणामतः व्यक्ति का वैयक्तिक, सामाजिक, चारित्रिक, हार्दिक, सांस्कृतिक, आत्मिक, सभी प्रकार का अन्तिम छोर तक ह्रास हो चुका है। चिन्तन पूर्णतः नकारात्मक है। विचार, समझ, विवेक इस स्तर तक गिरे हैं कि सभी शारीरिक-सौख्य के साधन पास होते हुए भी तृष्णा ने समाज की प्रत्येक इकाई को अनय व अवमानन की मानसिकता स्थायी रूप से प्रदान कर दी है जबकि सन्तोष प्रसन्नता का वाहक है। अतः मानव में प्रत्येक स्थिति में सन्तुष्टि व तृप्ति की मनःस्थिति की स्थापना आवश्यक है। तृप्ति-अतृप्ति, सन्तोष-असन्तोष और भोग-त्याग की वृत्तियों के विभिन्न पहलुओं के विशद् स्पष्ट निरूपण करने हेतु एक सचेत कोमल प्रयास है प्रस्तुत कृति– '**सुबोधन**'।

मानव के समक्ष प्रति-पग आजीवन नवीन-नवीन अत्यन्त साधारण सी परिस्थितियाँ आती हैं, जिनके प्रति वह समुचित समायोजन करने हेतु किम् कर्तव्य विमूढ़ की स्थिति में आ जाता है अथवा दोषपूर्ण परिहारों की ओर सांसारिक प्रभाव के कारण बढ़ जाता है। विभिन्न अति सामान्य सी दिखने वाली परिस्थितियों के प्रति सम्यक् पगों की पहिले से ही सुसफल विज्ञता होना प्रत्येक के लिये प्रसन्नतादायक और व्यवहारों को उमंग प्रदायी होता है जिससे सुपथ से विचलता का बचाव व अन्तः-श्रेष्ठता की प्राप्ति होती है। उक्त सन्दर्भ में मनुष्य को प्रति-क्षण दैनिक जीवन में सामान्य पगों की स्वच्छता प्रदान करने वाले सदाशय सफल संकेतों का लघु-सा बोधक-कोष है प्रस्तुत कृति– '**सुबोधन**'।

मृत्यु प्रमाणित करती है कि प्रत्येक जीव चेतन जीवात्मा है, किन्तु विस्मयकारी है कि मनुष्य उस स्वात्मा के लिये कोई कार्य नहीं करता वरन् शारीरिक सुख के लिये ही उसकी आजीवन क्रियायें रहती हैं। चेतन जीवात्मा ही वास्तव में वह सत्त्व है जिसे सम्पूर्ण मानव जाति ईश्वर कहती है। यह ईश्वर सभी मनुष्यों के लिये मात्र एक शब्दभर है, जिसकी सम्पूर्ण जीवन में भी कोई मनुष्य अन्त:-अनुभूति नहीं करता, इसीलिये इसके आनन्द व प्रसन्नता के लिये कुछ भी नहीं करता है। वस्तुत: यह सभी का अन्तर्आत्म-ईश्वर अन्यों की सेवा, सहयोग, हितों की पूर्ति करने वाले कर्मों से सन्तुष्टि एवम् शान्ति प्राप्त करता है। अत: प्रत्येक प्रकार का वह सदाचार जो सकल जीव जड़ को सुरक्षा और सुखद शान्ति देता है अपने स्वयम् के अन्त:-ईश का सुख आनन्द है। प्रत्येक को इसी यथार्थ की अनुभूति कराने की ओर अकिञ्चन भूमिका निभा सकने की योग्यता प्रदान करने वाली पथ-प्रशस्तिका है प्रस्तुत कृति– **'सुबोधन'**।

प्रस्तुत कृति के प्रत्येक शब्द-विन्यास का कथन-भाव मानव कल्याण हेतु श्रेष्ठ ज्ञान का आत्मिक प्रयास है जिससे प्रत्येक व्यक्ति 'मैं 'मैं' हूँ' की भाव-दशा की स्वत: अनुभूति कर अपनी क्रियाओं को स्वयम् हेतु एवम् सम्पूर्ण विश्व हेतु शुभ तथा आनन्ददायी बना सके।

समाज में प्रत्येक को उसके अपने संसारी-मन की क्रियाओं द्वारा तथा दूसरों के शोषण द्वारा दी हुयी यातनाओं की पीड़ा के मेरे हृदय में अंकित दृश्यों से उत्पन्न झञ्झावाती व्यग्रता; जीवन में यथा-सम्भव विभिन्न परिस्थितियों के प्रति सम्यक् सद्भावनाओं की जागृति और इस सम्पूर्ण सृष्टि के विभिन्न रूप में स्वयम् ही प्रकट होने वाले ईश्वर, जोकि हम स्वयम् भी हैं, की चेतना प्रदान करने के साथ उसके-सदृश आचरण करने की सर्वकल्याण हेतु प्रेरणा, जिससे मनुष्य सर्वथा सुपात्र बन सके; को प्रस्तुत कृति– **'सुबोधन'** अपने अन्त: में समेटे हुए है। इसी आन्तरिकता के आशय को कृति के मुख-पृष्ठ पर अंकित दोहा व्यक्त करता है–

काव्य सुबोधन जाग का, सम्प्रेषण है मात्र। जो उभार सद्भावना, नर को बने सुपात्र॥

पूर्व प्रकाशित कृतियों में मैं अपनी पारिवारिक पृष्ठभूमि और उससे प्राप्त वैचारिक-दृष्टि का समुचित कथन कर चुका हूँ। इस कृति सहित समस्त कृतियों की रचना, संसार में रहते हुए मेरी उद्दीप्त भाव-दशा के अनुरूप सर्वहिती प्रस्तुति के रूप में ब्रह्माण्ड-नायक भगवान् श्री सत्य साई बाबा जी द्वारा मेरे शारीरिक अवयवों को स्वयम् उपयोग में लेकर की गई है। प्रस्तुत कृति के पृष्ठ भाग पर प्रत्यक्ष-ब्रह्म पूज्य माँ की स्मृति में, क्षेमंकर तेजस्-दातृ पूज्य पिता-श्री की स्मृति में; ब्रह्माण्ड नायक पर-ब्रह्म श्री सत्य साई प्रभु को सर्मपण हेतु तथा स्वयम् रचयिता की चेतना जागृत करने के सन्दर्भ में दोहे प्रस्तुत हैं जो उन सर्वदा पूज्यों के चरण-कमलों में मेरी श्रद्धा की समर्पित नम्रीभूत अभिव्यक्ति हैं, पुन: नमन के साथ क्रमश: प्रस्तुत हैं–

सागर की गम्भीरता, भू का चित्त उदार। है माँ, माँ के रूप में, विभु का पावन प्यार॥
मंगल प्रहरी ईश सा, कुम्भकार निर्भीक। है सद्गुण सम्वृद्धि का, श्रम का पिता प्रतीक॥
सुखदा , नाशक मृत्यु के, प्रभु के पद-पाथोज (कमल)। उनें प्रतिष्ठित चित्त में, सो कर, पा सत्-ओज॥
सुपथ सुकर्मों में जगा, चेत, बढ़ें जब पाँव। पा तब सकते इष्ट की, प्राण छाँव में ठाँव॥

भगवान् श्री सत्य साई बाबा द्वारा मुझ अकिञ्चन के भावों को प्रदत्त षष्ठम् प्रस्तुति 'सञ्चेतना' पर समीक्षा देने वाले सभी विज्ञजनों का हार्दिक आभार। स्थानाभाववश उन्हें उद्धृत न कर पाने हेतु क्षमा प्रार्थी हूँ। प्रस्तुत कृति **'सुबोधन'** पर गहन विचार कर मूर्धन्य डॉ॰ श्री ओमदत्त आर्य जी ने **'अद्भुत है सुबोधन'** शीर्षक से अपना आशीर्वाद दिया है। मैं आत्मा से उनका आभार व्यक्त करता हूँ। परोक्ष रूप से साई प्रभु जी द्वारा सृजित कृति **'सुबोधन'** से भावाभिभूत मेरा अन्त:-वासी सत्त्व भगवान् बाबा का आत्मिक आभार निवेदन करते हुये उनके चरण-कमलों में नतमस्तक होकर नमन करता है। साथ ही कृति के शब्द-संयोजन हेतु श्री विनोद कुमार 'कन्हैया' जी, मुद्रण हेतु यश प्रिन्टर्स तथा सभी शुभेच्छुजनों को हार्दिक आभार सहित शुभकानायें। प्रबुद्ध पाठियों से प्रस्तुत कृति में उपस्थित त्रुटियों की निस्संकोच जानकारी देने का नम्र निवेदन।

पौत्री जन्म ०४-०३-२०१७

डॉ॰ बुद्धि प्रकाश शर्मा

बोधितव्य-बिन्दु

संस्करण : ०४-०३-२०१७
शब्द-संयोजन : श्री विनोद कुमार 'कन्हैया', #८१२६३१०४९२
मूल्य : मात्र रुपये दो सौ साठ
आवरण : इण्टरनेट से साभार
मुद्रक : यश प्रिंटिंग प्रेस, #९०२७१६६५७६
प्रकाशक एवम् वितरक : डॉ० बुद्धि प्रकाश शर्मा

(कृति के प्रत्येक पद व दोहे की रचना के लिये स्वयम् रचयिता उत्तरदायी हैं।)

"Subodhan (Bodh-Kavya)"

BY DR. BUDDHI PRAKASH SHARMA
M.SC. (PHY., MATHS.); B.ED; M.ED.; M.PHILL; PH.D.
315, NAI-BASTI, BIJNOR, U.P. INDIA
PIN 246701 Ph.01342-263936

नित्य नमस्य[1]

तत्त्व सत्य जो अन्ततः, ब्रह्म, कृष्ण वह राम।
उसी ब्रह्म सत्-साई को, आत्मिक श्रद्ध प्रणाम।।

माँ, भू-माँ, गौ-माँ कृते, जो नहिं रहे कृतज्ञ।
सजग! अवसि सबसे करे, वह छल बन मर्मज्ञ।।

क्लेश-सहन कर्त्तव्य का, पालन, करुणा स्नेह।
माँ अहैतुकी श्रेष्ठता, आत्म-त्याग का गेह।।

माँ धरती पितु बीज हैं, शेष सभी परिवेश।
पितु माँ अरु परिवेश हैं, गहरा देख, परेश।।

आँचल है माँ सृष्टि का, पिता गगन विस्तार।
क्षेम दोउ में ईश का, गुरु का जीवन सार।।

ही मन शिशु का, मातु है, वत्सल सहन दुलार।
पितु आश्रय[2]-आदित्य है, दुर्गुण प्रत्याहार[3]।।

निराकार सृष्टा हुआ, धर माँ-पितु आकार।
शिशु भी वही अनन्तता, सो माँ-पितु का प्यार।।

शिशु से माँ पितु हो गया, चेतन सर्वाकार।
सो पुनि शिशु को जन्म दे, जन्मे स्वयम् उकार[4]।।

माँ सी ममता का रखें, बना सर्वदा भाव।
तब दुख-हरनी शक्ति का, होता है उद्भाव[5]।।

शिशु माँ से पल का नहीं, सहता जस अलगाव।
अपने प्रति मुझ में भरें, प्रभु अस आतुर भाव।

---

१. नमस्य-पूज्य; २. आश्रय-संरक्षण; ३. प्रत्याहार-पीछे खींच लेना, हटाना; ४. उकार-शिव; ५. उद्भाव-जन्म।

सुखाधार अपनत्व

०१

भजन बिन अन्तर तम न हटे।

भजन है ईश्वर का गुणगायन/करता क्या, कर सके नारायन
भजन मुक्ति की खुली डगर है; उनको, जो भटके। भजन बिन..

भजन ईश का विश्लेषण है/अन्तिम सच दर्शन दर्पण है
तत्त्व बोध की सहज साधना; जिससे पाप कटे। भजन बिन...

भजन नाम सं-कीर्तन जप है/कलि काले कठिनाइ कवच है
धैर्य विवेक शान्ति आनन्दम्; चित चेतन प्रकटे। भजन बिन...

भजन ज्योति चकमक पाथर है/ हृदय बुद्धि शुचिता आखर है
सन्त हो गये वे असन्त भी; पग पग जो कपटे। भजन बिन...

०२

धरम कीऽ होती धुरी दयाल।
इससे लिपटा, नहीं सताये; उसको काल कराल।।
आजीवन आरूढ़, जयति हो; अम्बर यश: मशाल।।
धर्म-चक्र, धारण कर जीता; नर ज्यों पूज्य मराल[१]।।
धन्य सार्थ, करना जीवन सो; सद्कर्मों को पाल।।
धर्म, कर्म-कर्त्तव्य, मनुजता; निज को इसमें ढाल।।
कहत सुमति प्रत्येक कर्म हो; धर्म-सिन्धु उत्ताल[२]।।

०३

धोखाऽ, झूठा जग का खेल।
अघ-सिर राजमुकुट, पुण्यों की; कीमत नहीं अधेल।।
अपने कथित, पीर दें छिप छिप; अद्भुत जगत् झमेल।।
जब लौं तन धन रहे लुटाता; तब लौं नात सुमेल।।
लख! जय हो, कर्त्तव्य-मग्न की; धृति रख, बाधा ठेल।।
भले झूठ जग-मूल, किन्तु तू; सींच सत्य की बेल।।
कहत सुमति, घट बैठा स्वामी; रक्षक, न तू अकेल।।

---

१. मराल-राजहन्स; २. उत्ताल-प्रचण्ड, श्रेष्ठ

यदि तुम मेरे अपने होते, ऐस मेरी तकदीर न होती।
दुख दर्दों के समझाने में, पीर मेरी बेपीर न होती॥ यदि .....

चुभी कील सी मजबूरी क्यों, व्यर्थ बोझ दुनिया पर बनती।
बुझती किरन कफन के गम में, भर भर दीप खून नहिं जलती।
मेरे प्राणों की देहर पर, बीयावान समीर न होती॥ यदि .....

मेरे जीवन के पन्ने पर, काली नहीं बिखरती स्याही।
प्यास मेरे ओठों की अब तक, कैसे रह जाती अनब्याही।
बीती अनबीती बातों में, काया ठिठुर फकीर न होती॥ यदि .....

हर आंगन क्यों आँख दिखाता, हर सपना क्यों मुझे सताता।
मेरे बेबस अरमानों को, कोई सहला गले लगाता।
संघर्षों से बतियाने में, ऐसे आँख अधीर न होती॥ यदि .....

क्यों हर द्वारे माथा टिकता, पड़ते क्यों रोटी के लाले।
मैं सोना कौड़ी में बिकता, पोर पोर क्यों कण्टक जाले। यदि .....
हिम वर्षा के पड़ पड़ कोड़े, चूनर चीरम्चीर न होती॥

कोई घर मेरा भी होता, जिसमें गेंदा जूही बोता।
खूब महकती जीवन क्यारी, पतझर पग पग क्यूँकर होता।
सीलन भरी फूँस टट भीतर, काँतर प्रीत शरीर न होती॥ यदि .....

हर सावन क्यों तपिस लगाता, हर मधुमास मुझे तरसाता।
हर मुँह मेरी इस हालत में, पुरखों का इतिहास न गाता।
आशा और निराशाओं की, अँधियारी जञ्जीर न होती॥ यदि .....

अर्थहीन सम्बन्ध न होते, अपने भी अपने ही होते।
बढ़ती पग पग नाता गठरी, मित्र मित्र के अर्थ न धोते।
सँग चलना सौभाग्य समझते, बातों की तस्वीर न होती॥ यदि .....

आवाजों के महानगर में, मेरे स्वर की सरगम होती।
व्यक्ती पूजा के वे पण्डे, गुणगानों के पोते मोती।
ऊँचे टीले बैठा होता,, चाहे हाथ लकीर न होती॥ यदि .....

***** सुबोधन *** १०**

अखबारों के मुख्य पृष्ठ पर, छींक मेरे छपते औ' खाँसी।
बड़े बड़े उद्घाटन करता, कभी हिसार कभी जा हाँसी।
काम मेरे बातें ही बनतीं, मूल्यहीन तदवीर न होती।। यदि .....

मन की टीस भरा विष पीकर, श्वाँसों में उगते क्यों कीकर।
ऐसे ना मर जाती आशा, क्या लेना है कुछ पल जीकर।
मेरे भी कुछ अरमाँ होते, चाह मेरी उस तीर न होती।। यदि .....

०५

आ जाते यदि एक बार तुम, हर आशा मेरी हो जाती।
मेरे मन की काल कोठरी, सुरभित सा मधुवन हो जाती।। आ .....

क्यों हर कल सन्यासी होता, पाँख पाँख झुलसातीं घातें।
घुटन त्रास के सर्प रेंगते, कोढ़ी कलयुग सी क्यों रातें।
सूनेपन के नाम उमर क्यों, बचपन में बेवा हो जाती।। आ .....

मन की चुटकीभर माँटी को, चाट गया कुण्ठा का कीड़ा।
तन कंकाल बना ठोकर खा, तपन भरी सुधियों की पीड़ा।
बिन पतवार शिकस्ता कश्ती, सागर आर-पार हो जाती।। आ जाते

नरगिस सूखी मुसकानों की, मरुथल का इतिहास बन गई।
मोमी मन ऐसे रो पिघला, रक्तधार बरसात बन गई।
मेरी प्यासी पीर उदासी, ज्योतित प्राण-शिखा हो जाती।। आ .....

टूटी शाख पेड़ निर्जन का, मैं जग की दहलीज हो गया।
धुँधियाता चेतन बतियाता, जीवन जिन्दा लाश हो गया।
तेरे मौन बोल का इक स्वर, मेरी जलन-दवा हो जाती।। आ .....

तारीखों के रहा भरोसे, उजलेपन के सपन बो गया।
इस पन्ने की खुली दुपहरी, कमसिन आगत लिए, खो गया।
सुरमई चाहत की अँगड़ाई, जनम जनम पूरी हो जाती।। आ .....

०६

मैं हूँ भिखारी, मात्र चाहिये भगवान् / चाहिये भगवान् मुझे चाहिये भगवान्।

मिट्टी नहिं, पानी नहिं, आग न हवा / यद्यपी ये चारो हर रोग की दवा
चाहिये सर्वत्र व्याप्त, ओ३म् गुणगान / चाहिये भगवान् मात्र............

लीडर नहिं, प्लीडर नहिं, रिश्वत न भेट / यद्यपी ये दुनिया ही पैसा है एक
झूठ न फरेब, सत्य चाहिये ईमान / चाहिये भगवान् मात्र............

जप तप ध्यान नहिं, पूजा न पाठ / यद्यपी फकीरी में सारे छिपे ठाठ
मनुज मनुज प्रेम, प्रेम चाहिये इन्सान / चाहिये भगवान् मात्र............

राज ताज भोग नहिं, स्वर्ग न त्रिलोक / यद्यपी हों राग काम पूर्ण, मिटें शोक
दीन जीव हेतु मिले, सेवा का दान / चाहिये भगवान् मात्र............

०७

चिन्ता : एक फावड़ा; खोदे; मन -भू तल पर खाँचे।
जिनमें फँसे; अभाव, कसमकश; दुख-दर्दों के ढाँचे।। चिन्ता..........

क्रूर समय की; बेरहमी का; लगता पल पल चूना।
यादगार; पलकों पर उतरे; लिये उदासी सूना।
बेबस और, गरीबी के मुँह; तड़ तड़ पड़ें तमाचे।
सोने के; दिल को क्या परवाह; मन जो उसका बाँचे।। चिन्ता..........

धूमिल पड़ीं; खड़ी आशाएँ; मन की तंग गली में।
ज्यों विकास को; विवश किया शिशु; तड़पे बन्द नली में।
कहीं मस्त; हंकार महल का; नंगा नर्तन नाँचे।
जो छल और; फरेबों से; बन सकते झूठे, साँचे।। चिन्ता..........

मजबूरी के; रोज बढ़ रहे; गले-झोंपड़ी फाँसे।
रह रह कर; सिकुड़ी आँतों को; भूख निगोड़ी ताँसे।
घोर डूबते; कल के सपने; पोर पोर मन राँचे।
फुटपाथों; की देह; मनुजता के पैमाने जाँचे।। चिन्ता..........

०८

अगर हम न होते तो इन्सान होता; हमें शक है दुनिया में ईमान होता।।

ये सुनसान रातों में फुटपाथ रोते; जो चिथड़ी चदर लेके, लिपटे न सोते।
शहर के शहर में सुलग उठते शोले; लपट बिन शहर सारा शमशान होता।।

ये फूहड़ फफकती सिसकती निगाहें; ये क्रन्दन ये चीखें ये मजबूर आहें।
मिली हैं हमें जिनसे जो पैदा होते; वो महलों का दीदार वीरान होता।।

हमारी भुजाओं के बल से ये सड़कें; ये बिल्डिंग ये खानें यें इन्जिन जो फड़कें।
उगलती न धरती माँ सोना कहीं पर, ये आकाश पाताल निष्प्रान होता।।

ये हम ही हैं जिनसे है जिन्दा मुरारी, पुकारें जो हर पल ही आहें हमारी।
खनक टल्लियों की ये ढोंगी मजीरे, ये धर्मों के पण्डों का अवसान होता।।

०९

मैंने अपने शहर में देखा, तूफानों का जमघट सा।
हर निगाह पर टिका हुआ है, तरसे अरमाँ पनघट सा।। मैंने.........

भीड़ों भरी सड़क लगती हैं; चलती फिरती लाशें हैं।
उजड़ापन चिपका हर मुँह पर; डरी डरी निश्श्वासें हैं।
घुमड़ा ज्वार दीन उर अन्तर, मुख सन्नाटा मरघट सा।। मैंने.........

उमर कुमारी श्वाँसों की भी, हाथों बिकी अभावों के।
नयनाकाश समायी तड़पन; घट घट अन्धड़ आहों के।
है हर साँस भूख से बेघर, सुनसानों की करवट सा।। मैंने.........

कुछ हि भेड़िये सब के आगे; मानवता का कत्ल कर रहे।
कुचल रहे हर उर के छाले; अजगर घर औ' द्वार भर रहे।
ठोकर पर ठोकरें दे रहा, वक्त कमीना लम्पट सा।। मैंने.........

सुधियों के साये उभरे हैं; हर मन के बेखबर पटल पर।
डायन रोटी का पहरा है, जीवन की हर घड़ी पहर पर।
सबकी चाह बनी सपनीली, सौनपरी का घूँघट सा।। मैंने.........

१०

आदमी; कीड़ा मकोड़ा हो गया है; और वे जहरी; निगलने पर लगे हैं;
या कि फिर; ऐसे मसलने पर लगे हैं; रेंगने को शक्ति भी; जो रह नजाये शेष;
नाम पर अस्तित्व के; कुछ दीखते अवशेष।

श्वेत खादी में लिपट जो; भोंकते हैं; हित तराना; आदमी का;
पी रहे हैं; आखिरी कतरा लहू का; आदमी का।

नोंचने को मान्स खूनी श्वान उनके, ओढ़कर शालीनता की चादरों को;
शुभ्र धवला वेश में; झपटे हुए हैं।

मान्स बँटता आफिसों के डाकुओं में; या कि फिर सहकारिता की झोंपड़ी में
और सबसे बृहद हिस्सा; मखमली कालीन कोचों पर उनींदे;
चावते हैं; श्वेत खादी के पुलन्दे।

जब जहाँ चाहें मिटा दें; खोज उसका; भोंककर संगीन, या दंगे कराकर;
और वे खादी पुलन्दे; आँख के आँसू लिये घड़ियाल से जो; आँख में अपनी सजाकर;
व्यक्त दारुण दु:ख करते; डूबकर गमलीन।

सहसा अभिनय को बदलकर; भींच कर मुट्ठी गरजते; साजिशें;
चलने नहीं दी जायेंगी; प्रतिक्रियावादी।

जी रहा है आदमी; उनके बनाये जाल में ही; आखिरी धक तक हृदय की;
और वह असहाय; कर भी क्या सकेगा; शक्ति तन की भूख भक्षण कर चुकी है;
चेतना को धर्मपाशों में जकड़कर; सोचने की शक्ति भी; पंगू बना दी।

११

इन्द्रिय-एषा आचरण, स्व तन्त्र है।
आचरणावली पालन; सुतन्त्र है।
कर्म चिन्तन में परहित साधन; स्व तन्त्र को, बनाता सुतन्त्र है।
अमर्यादित; मर्यादाहीनता में परतन्त्र है।
सुतन्त्री ही; सच्चा सुखी व स्वतन्त्र है।
स्वानुशासित; स्वतन्त्र है, परतन्त्र नहीं;
निजाधीन सपनेहू दु:ख नाहीं।

१२

ये दुनिया पैसों का खेल / तेरा मेल न मेरा मेल।

क्षिति जल पावक गगन समीर / अलग अलग मिल बने शरीर।
जय अस्तित्व समर में जिस पर, कोठी कारें हार हमेल।। ये दुनिया............

अपनी ढपली अपना राग / जेबें खेल रही हैं फाग।
खाली जेब टूटते नाते, भरी जेब रम रेलमपेल।। ये दुनिया............

धन सम्पद् का खूनी पञ्जा / निर्धन पर कस रहा शिकञ्जा।
मेहनत भूखों तोड़ रही दम, हथकन्डे हो गये अझेल।। ये दुनिया............

हाय हाय कैसी ऋतु आयी / माँगे भीख सुपात्र न पायी।
खाती है दुत्कार गरीबी, अमर अमीरी जीवन बेल।। ये दुनिया............

चक्की चूल्हे घर घर बेदम / नित नित महँगाई सुरसा सम।
हाय निगोड़ी वणिकइ तापर, बैठी हाथों लिये गुलेल।। ये दुनिया............

जनहित सेवक अफसर बाबू / पैसा बिन होते बेकाबू।
आफिस के दरवाजे तक भी, सुविधा-शुल्क बिन रहे धकेल।। ये दुनिया............

अहम् प्यार मादकता क्रोध / पैसे से सब होते बोध।
जन गण मन अधिनायक पैसा, नाक नाक की बना नकेल।। ये दुनिया............

१३

आदमी में; देश निष्ठा; मर गयी / देह-निष्ठा में; सिमट कर; रह गया।

ओढ़कर; निरपेक्ष मुख की केंचुली / नीचता की; हद सभी; वह ढह गया।

डूब जाये; देश; धन कुर्सी मिले / कद बड़ा; चुपचाप; उसका कह गया।

भाव हिल-मिल; पशु विहग में; है भरा / किन्तु उसमें; स्वार्थ में ही; बह गया।

तन्त्र स्व का; और; सीमायें शिथिल / कोई है; जिसको नहीं अघ; गह गया।

१४

मेरा राष्ट्र; बहु प्रतिभा का धनी।

एक ओर नेतई के; और दूसरी ओर फुटपाथी जीवन के; उत्पादन में;
रिकार्ड तोड़ प्रगति कर रहा है।
ईमान भूखों मर रहा है; भ्रष्टाचार फूल-फल रहा है।
भ्रष्टता के नवाचारों पर; कथित उच्चवर्ग में; नित्य शोध चल रहा है।
बेरोजगारी का पिशाच; मानव-शक्ति संसाधन का; भक्षण कर रहा है।
और; कुर्सी का पिशाच; करोड़ों हाथों के श्रम को, चट कर रहा है।
नौकरशाही का सुरसा पेट; सुविधाशुल्क अरु कमीशन पर; पल रहा है।
बुद्धि-बल; श्रम-बल को; निगल रहा है।
जन-सामान्य किम् कर्तव्यम् विमूढ़; सूनी निगाह से; हाथ मल रहा है।
हे मेरे भारत महान; ले सज्ञान; तेरा रक्षक नेता; खुल्लम तुझे कुचल रहा है।
ईश्वर करे; तू मेरे जीते जी; जीता जागता रहे; जिससे मेरी आत्मा को रहे शान्ति;
कि कम से कम; परदेशी हाथ; तेरे श्रम, संस्कृति, विश्वासों को तो;
नहीं छल रहा है।

१५

जैसी नकटी देवी है, वैसे हि ऊत पुजारी हैं,
शोषण के खूनी पञ्जे, नित नित बढ़ना जारी हैं।। जैसी.........

देवी को बस चिन्ता है, उसका आसन बना रहे,
छल फरेब के नारों से, उसका शासन बना रहे,
करनी पड़ें चाहे कितनी, करतूतें जो कारी हैं।। जैसी.........

पूत बहू पोते युग युग, मेरा ही आसन पावें,
ऊत पुजारी सेवकगण, पल पल बलिहारी जावें,
दंगा खूनखरावा तो, शासन की होशियारी हैं।। जैसी.........

शक्तिशालिनी का बेटा, क्यों न करे गुण्डागर्दी,
जिसका बाप दरोगा हो, उसकी चलती है मर्जी,
पूत पुजारी को कितनी, भेंटें चढ़ी कुआरी हैं।। जैसी.........

ऊत पुजारी चौबे हैं, खा खा कर रिश्वत मोटी,
फटेहाल मेहनतकश है, भ्रष्टाचारी को कोठी,
भूखे नंगे माँग करें, रोटी, अत्याचारी हैं।। जैसी.........

१६

इस किताब के सारे पन्ने, कोरे क्यूँ हैं / अन्दर से गहरे काले भी गोरे क्यूँ हैं।
बरगद पर कुछ कत्तर भी नहिं देखीं हमने / ये बबूल ही सारी शाल बटोरे क्यूँ हैं।
कूँचे गली सड़क चौराहे बुझे बुझे से / जीवनहीन बने भूसे के बोरे क्यूँ हैं।
पुष्पवाटिका के बेला जूही जैसे भी / फूल बैंगनों आगे खीस निपोरे क्यूँ हैं।
शो-पीसों में सज बैठे जो उल्लू कौवे / धूल झोंक आँखों में खून निचोरे क्यूँ हैं।
मन्दिर में आकर केले पर दीप जलाते / लेकिन जीवन-दीप जले बिन फोरे क्यूँ हैं।
मानवता के अन्श जहाँ ढूँढे नहिं मिलते / उन चोरों के इतने आज निहोरे क्यूँ हैं।
फुटपाथों पर बैठे हैं जो पंक्ति बनाकर / उन तमाम के खाली पेट कटोरे क्यूँ हैं।
गिनती में सौ में अस्सी जो वे असंख्य भी / इस समाज की गतिविधियों में थोरे क्यूँ हैं।
मेहनत मजदूरी करके जो पेट पालते / हक पाने के हक में निपट कमोरे क्यूँ हैं।
परिवर्तन के इस नवीन युग की बेला में / सम्बन्धों के बोने जाल छिछोरे क्यूँ हैं।
जागो उठो अरे तुम ओ, मिट्टी के माधो /सोचो तुमको कुछ ही डसे सपोरे क्यूँ हैं।

१७

क्यों समाज में पतन पराभव, सुन ले मेरे मित्र।

भ्रष्टों की इस दुनिया में तुम, बनकर केवल भ्रष्ट जिओगे,
हाथ बचाकर काटो चाँदी, बे-परवाह चूँस लो खून,
गले लगा दो फाँसी चाहे, कहते ऐसे ऐसे सत्जन,
जो वाकई पवित्र। सुन ले..................

गाँव मेरे में एक मकान, कितना अच्छा आलीशान,
बड़ी तरक्की की है इसने, कहता उसको सारा गाँव,
होनहार लायक बेटा है, चपरासी ही है तो क्या है,
और कहें औ' पित्र। सुन ले..................

भूखे नंगे त्रस्त और वे ढाँचे ढोते मानव खोल,
चाटुकार, मक्कार और ऐय्यास, जिन्हें बेचें पानी के मोल,
भाग्यवाद के प्रबल समर्थक कहकर कर लेते सन्तोष,
विधि की विधी विचित्र। सुन ले..................

आज उन्हीं का रुतवा जग में, जिनके कोठी कुठला कार,
उपभोगी उत्पादक के जो बीच करें बढ़ बढ़ व्यापार,
बैठ थड़े पर पंखे नीचे बेचें समझ बाप का माल,
जमा कहाँ से हुई ये इत्र। सुन ले..................

रिश्वतखोरी, कामचोरी, चचाभतीजावाद समाया उस तबके में,
भ्रष्टाचार बना बैठा आचार-संहिता, बाबू क्या सम्पूर्ण तन्त्र में,
काम सुरा के धनी वही जो,
टाँगा गाँधी चित्र। सुन ले..................

ओढ़े कुछ गान्धी की खादी, जनता हित के बने हैं आदी,
जाने कौन सफेदी उनकी लीन हुई खादी के संग, अन्दर तो कालिख ही शेष,
झगड़े टन्टे गोलीबार, कौन है खूनी जिम्मेदार,
कहें जोय जन-सेवक मित्र। सुन ले..................

चारों तरफ अराजकता है, नहीं सुरक्षित बहिन बेटियाँ,
तू मैं लूटें लाज किसी की, और सतायें, ये वे मुझ तुझ बहू बेटियाँ,
जब माँ बाप करें ये धन्धा, बेटे को क्या समझायेंगे,
देखें मिल चलचित्र। सुन ले..................

आज चलन है निज न देखकर, अन्यों के अवगुण सम्भाष,
दूध धुले हैं बेटा बेटी, और सभी के चोर लफंगे या बदमाश,
अपने पहिनें अंग उभारक कामुक लत्त, औरों के अखलाक गिरे हैं ऐसा करते,
समझ कहाँ हुई रिक्त। सुन ले..................

तथाकथित ये भलेमानुष, करते आँख बचाकर काम,
कहीं प्रतिष्ठा झूठी यूँ ही, पल में, हो न जाये बदनाम,
तेरा मेरा इसका उसका, कौन यहाँ है ऐसा जिसका,
बिगड़ा नहीं चरित्र। सुन ले..................

जनता जनता को खाती या अधिकारी सरकार,
ऐसे में किससे करते हो शुभचिन्तन दरकार,
असफल क्यों हो रहीं आज तक दुखियामोचन प्लान,
शोषित आज धरित्र। सुन ले..................

प्रजातन्त्र है प्रजातन्त्र है, हर कोई यहाँ पर स्वतन्त्र है,
सड़कों पर बह रही स्वतन्त्रता, क्योंकि उबाऊ न्यायतन्त्र है,
फिर क्यों किससे शिकवे करते, तुम्हीं भोज्य हो तुम ही भक्षक,
देखा कहा सचित्र। सुन ले..................

१८

कहानी कौन कहेऽ, कहानी कौन कहेऽ।

सगरे के सगरे मधुवन को / आग लगी कैसी हर मन को।
दया धरम औऽ 'सहन, शीलता; ढूँढे नहीं मिलेऽ। कहानी.......

कौन चोर घुस गया मनों में / जिसने रोंदी प्रीत वनों में।
तेरी मेरीऽ इसकी उसकी; बनती नहीं बनेऽ। कहानी.........

या जग की हर रीत निराली / छलौ' कपटमयी प्रीत निराली।
दीन दुखी क़ीऽ बात करूँ क्या; भाई से भाई लड़ेऽ। कहानी....

करनी हर स्वारथ की रह गई / रतन भरी ज्यों कश्ती बह गई।
हँसी खुशी कीऽ बन्द किताबें; कोई नहीं पढ़ेऽ। कहानी.........

धरम के कट्टर प्रेम पुजारी / मानवता इनसे ही हारी।
बाँट दिये दिलऽ इन्सानों के; समझ न कोई रहेऽ। कहानी.......

१९

शासन में अनुशासन है, ना अनुशासन में शासन है।

अनुशासन की बात करें उनकी; जो हैं शासनहीन / भला कैसे हो सकता है,
कुर्सी का आकर्षण; कर देता मजबूर / मिटा देने को हस्ती
पाप पुण्य सब मानव निर्मित।

अनुशासन की बात करें उनकी; जो हैं शासन के यान / भला कैसे हो सकता है,
उनके सब पग अनुशासन हैं; मालिक जो हैं वे / व्यक्तीगत बातें हैं, पर्दे के पीछे,
सत्तामद शासक की शोभा।

अनुशासन की बात करें उनकी; जो हैं शासितजन / भला कैसे हो सकता है,
भूख अनुशासन को खा जाये; और शासित को शासन / यही सनातन डैमोक्रेसी,
कि भ्रष्टता नहीं बपौती।

अनुशासन की बात करें उनकी; जो हैं शासन के हाथ / भला कैसे हो सकता है,
शासन तो झूठन पाता है; पहिले ये चखते हैं / इन्हीं के बलबूते पर, शब्द शोषण जन्मा है,
चम्मचें सदा रही हैं।

अनुशासन की बात करें उनकी; जो हैं शासन के दास / भला कैसे हो सकता है,
सँभालें शासनभर का भार; छोड़ दें फिर क्यों भरी बहार / आफिसिस मस्ती के अड्डे,
मनुजता इन्हें देख रोये।

२०

मुस्कुरा कर मीत अपना देख ले पल भर यदी,
उम्र यादों के सहारे काटना आसान है।
सुध रहे न मैं की तुम की, प्यार के आगोश में,
उम्र भर की बात क्या सौ जन्म का सामान है।
कुछ देर की दूरी यदी मन में मिलन की हूक दे,
ये मन की मजबूरी नहीं, मनमीत का उन्मान[१] है।
आइने में आँख के जो अक्स उतरे मीत का,
तब उर बसे माधुर्य में, मनमीत ही जहान है।
प्यार में अभिसार की सीमा न रह जाये कोई,
प्यार गीता ही नहीं, बाइबिल भी है, कुर्आन है।

१.उन्मान- मूल्य, सामर्थ्य, श्रेष्ठता

२१

गाँव को देखो खँडहर खँडहर बैठा मुँह बाये,
मौन उदासी नीरवता के घेरे हैं साये। गाँव................

छान छपड़िया की चादर से झाँके जलती धूप,
कच्ची काया का विकृत सा घावों वाला रूप,
फूँस पात ऊबड़ खाबड़ में गढ़ी दुवारी थाम्म,
गुदरी बिच ज्यों नये वस्त्र की थिगरी लग जाये। गाँव................

आलू गाजर बथुआ खाये औ' सरसों के पात,
शहर भाई के लिये उगाता गेहूँ चीनी भात,
मिट्टी में मिल मिट्टी होता किन्तु सुबह से शाम,
एक वक्त में इक रोटी भी इसके हाथ न आये। गाँव................

नरसी गाड़ी पर गढ़वाला उकड़ू बैठा गाँव,
छप्पन छेदों वाला कुरता काँटे जूती पाँव,
चिथड़े की नौ अंगुल कत्तर अधोवस्त्र के नाम,
सूखी टाँगों की शक्ती को भूख निगोड़ी खाये। गाँव................

इसकी वीरानी मजबूरी का बूढ़ा इतिहास,
मन मसोसकर रहे नहीं है फूटी कौड़ी पास,
खोया-खोया सहमा-सहमा लुटा पिटा जैसे,
वृद्ध आत्मा पुत्र निधन पर हाहाकार मचाये। गाँव................

समय चक्र का इसको पल-पल तूफाँ औ' सैलाब,
आँसू आह अभाव आदि से, जीवन भरी किताब,
सूखे नाटे उजड़े ठठ्ठर को है कब आराम,
ठिठुरन को मुठ्ठी में बाँधे फिरता बगल लगाये। गाँव................

२२

कैसे चल पायेगा पैरों, तेरे ऊपर कितने काँव,
तू ही एक नहीं है उजड़े, इनके कारण गाँव के गाँव। कैसे...........

जाने कितने गीध सिन्धु हैं, धरती माँ की गोद में,
तुझको घर बेघर कर रखते, अपने अपने मोद में,
तू श्रम करते टूट जायेगा, तेरा पेट नहीं भरना,
तेरी रोटी चाब रहे हैं, पग पग पर सर्पीले पाँव। कैसे.................

आहत पशु-मानव जड़ पत्थर बनकर तुझको जीना होगा,
मुठ्ठी दानों को पाने में तुझे भटक फिरना होगा,
दुखिया दारिद असहाय दलित नीरव ही रहना है रे तू,
क्रन्दन तुझ सूनी आँखों का, झूठी बस, तेरी चाँव चाँव। कैसे.................

श्रम के शोणित का है शोषण, प्रासादों के कण कण में,
नाच रही है नग्न क्रूरता, वैभव के निर्मम भक्षण में,
भूखे वञ्चित आतप नंगे, ओ! दीन उपेक्षित श्रमजीवी,
भूरे रीछों ने छीना रे लख, तेरा ठौर ठिकाना ठाँव। कैसे.................

खेतों मिलों पुलों वन खानों झोंक कोयले रेलों के,
रात दिना तोड़े जा रोड़े, सड़कों महल दुमहलों के,
बाँध बना नदियों नालों के, लोहा चौड़ा कर फिर भी,
हिम वर्षा और धूप मिलेगी, तुझको नहीं मिलेगी छाँव। कैसे.................

२३

हाय अभागे का जीवन ज्यों, बिन पर हन्सा ढहर पर,
गाँव से आया है ये देखो गंगा मैया तैर कर। गाँव................

भादों भरी नदी का सीना चीर इसे लायी मजबूरी,
अन्न के दो दाने नहिं घर में, धरती बिस्तर तिनका तूरी,
चक्कर बन बैठा रखैल सा, इस दुखिया के पैर पर। गाँव................

कच्चे पाखे भेंट चढ़ गये तूफानी बरसात के,
छप-छप कीचड़ बिखर रही है चौका चक्की द्वार पे,
फूँस मढ़इया टिकी हुई है उस विधना की खैर पर। गाँव................

जरदारों की दुनिया में ये अब भी नाली का कीड़ा,
उठी उमर में पुरखे मर गये सह सहकर भूखी पीड़ा,
इसकी बाती जली तेल बिन कोई बहाये सैर पर। गाँव................

आठों पहर जमींदारों का पिलता कोल्हू बैल सा,
घास खोदते बच्चे काटें पानी पी दिन शैल सा,
भूखी आँत माह में दस दिन सिसके ठहर-ठहर कर। गाँव................

मरुथल पेड़ देह की ठठरी नौन नाज का सपन लिये है,
तन पर बस कोपीन सुशोभित मन में अविचल वचन लिये है,
झुकें न हड्डी टूटें बेशक क्रूर काल के बैर पर। गाँव................

२४

जब टूक टूक दिल सीने में, तब भेद क्या मरने जीने में।

धरती का सीना चटक चटक जब क्षार क्षार हो जाता है,
मिल में खेतों में खानों में, श्रम पूत ही खून जलाता है,
कम है पेटों की अग्नी से, वह आग भी जेठ महीने में। जब...............

आकाश मार्ग से हिम सागर बन शिशिर डोलता धरती पर,
झोंपड़-पट्टी फुटपाथ गाँव सिकुड़ा ठिठुरा श्रम करता पर,
चिथड़े भी नहीं मयस्सर हैं जालिम लिपटे पशमीने में। जब...............

मिल जाते हैं पर्वत पर्वत जब घाटी सिकुड़ सिकुड़ जाती,
अनगिन ठठरी देहें ठिठुरी टिम टिम करती जीवन बाती,
बेवस दुख दुर्द सहें कब तक औ' कब तक रहें करीने में। जब...............

नेता, अभिनेता, सेठ, साहब, वी0आई0पी0 की कारें कुचलें,
बहुमञ्जिल निर्मित करने में, गिरकर तन-अंग छिटक उछलें,
सोने चाँदी का दिल करता कब अन्तर खून पसीने में। जब...............

छः महिने लेती है फाइल चलने में इक टेबिल दूरी,
बाबू साहब चपरासी की जेबें नोटों से हैं पूरी,
वे नहीं झिझकते क्रूर कभी दीनों का शोणित पीने में। जब...............

मैं बात व्यवस्था की करता मेहनत मजूर भूखा नंगा,
कोठी कारें कालीन कोच कुर्सी का प्रेत भला-चंगा,
बुद्धी टोपी श्रम जूती है मेरे परिवेश कमीने में। जब................

२५

काँटे लगाओ दोस्तो काँटे लगाओ
मग में करील के हि तुम पौधे उगाओ। काँटे................

बन के बबूल बिखरो तुम औरों की राह में,
पल पल गुजारो अन्य की, हानी की चाह में,
ऊपर से रहो सौम्य शान्ति शीलता के दूत,
पर्दे की ओट से सभी से द्वेष निभाओ। काँटे................

सत्यम् शिवम् औ' सुन्दरम् हैं सिरफिरों की बात,
फिलहाल कर्ममूल्य में हैं, द्वेष, घृणा, घात,
हालात के अनुसार ही चेहरे बदलते हैं अतः,
चालाकियों के तीर को तरकस में सजाओ। काँटे................

मेरा समाज बालकों को दे रहा है सीख,
सच्चों को माँगे भी कभी मिलती नहीं है भीख,
नित रोज बदलते हुए परिवेश को समझो,
इससे सपूतो झूठ ही करतब में बसाओ। काँटे................

छोड़ो समाज को है ये घर घर की कहानी,
सामान्य कर्मों में भी, चोरी बेईमानी,
मिलते नहीं माँ बाप जो बच्चों से ये कहें,
इन्सानियत ईमान है ईमान हि पाओ। काँटे................

जो हो रहा है आज प्रिय उस पर विचारिये,
सुख छीनने को पाँव मत इतना पसारिये,
जीने के लिए परहितों का वध न सुख डगर,
मंगल परार्थ-कामना सत् प्रेम अपनाओ। काँटे................

२६

मन होता है आग लगा दूँ महलों भरे जहान को,
हैं हकूक कब मिले यहाँ पर मिट्टी के बलिदान को। मन होता................

सत्ता की शक्ती के आगे झुक जाते आदर्श भी,
लल्लो चप्पो और प्रशन्सा करते हैं उत्कर्ष भी,
है सारा इतिहास समर्पित सत्ता के अभिमान को,
क्या मजाल लेखक का बच्चा, न लिखे आदि अवसान को। मन होता................

मानव पैदा हुए करोड़ों बीत चुके अब तक सावन,
गुप्त मौर्य दुर्योधन बाबर लिखा गया केवल रावण,
रोटी भी मिल पायी थी क्या दुखियारे अनजान को,
लिखा गया कब दीन दुखी के, मसले उर अरमान को। मन होता................

लूट लिया है टाटाओं ने धन दौलत वैभव सारा,
मुठ्ठीभर दानों को पाने में ही सारा श्रम हारा,
दूध मलाई मक्खन रोटी मिलते उनके श्वान को,
तड़प मरें दुधमुँहे चूँसते ठठरी ठिठुरी जान को। मन होता................

बुद्धी औ' कुर्सी के हाथों श्रम की जकड़ रही गर्दन,
करने को मर्दन मिल पाये जाने कब माँटी कन कन,
कृपा सिन्धु कब मिल पायेगा प्यासे रेगिस्तान को,
हक पाने की चेतनता कब, आयेगी इन्सान को। मन होता................

फुटपाथों के संगी साथी भूख भीख कब हरती है,
एक संगठित शक्ती से टाटा की टोली डरती है,
इक होओ मजदूर किसानो ओढ़ शीश शमशान को,
तुम्हें जगाने आया हूँ मैं लेकर स्वर की तान को।

२७

नीक बन इन्सान तू भलपन तुई स्वरूप है,
कालिख की रेख तक नहीं है, तू गगन की धूप है। नीक बन................

जालिम जमाने ने तुझे सौगात सोंपी झूठ की,
चोरी दमन हिन्सा घृणा निर्दय की आदत लूट की,
प्रवृत्ति मार्ग बावरे पशुमार्ग है तम कूप है,
इससे खुदा के नूर तू बदरंग है बदरूप है। नीक बन.................

सबसे बड़ा है सत्य तू औ' धर्म तू, ईमान तू,
इन्सान की काया कलेवर में अरे धीमान तू,
सर्वभूतों में निरखा प्रतिभा तुई अनूप है,
शान्ती अहिन्सा प्रेम का उल्लासमयी तू रूप है। नीक बन.................

जो कुछ दिखाई दे तुझे तू भी उसी का अंग है,
अंगों को काटने को हि, अंगों में फिर क्यों जंग है,
ध्यान दे इहलोक ये किस लोक का प्रतिरूप है,
तू ही अनन्त दिव्यता, तू ही त्रिलोक भूप है। नीक बन.................

जन्म से दैवात निर्मल, श्री विभूतीवान् है,
त्रिगुण की माया में न फँस, देही तु ही भगवान् है,
सार तत्त्व के गहिन को तू अनोखा सूप है,
गगन धरा समष्टि का, गौरव भी तू अनूप है। नीक बन.................

२८

आदमी बहुत हुआ शैतान, बात परदे से करता है,
धरनि पर मुझसा नहिं इन्सान, मुखौटों से दम भरता है। आदमी.................

झूठ छल कपट दम्भ बड़बोल, ठगई पाखण्ड ओट परदे,
बदलकर पल पल नव चेहरे, सचाई मिथ्या को कर दे,
हितैषी शुभचिन्तक बन शील, अस्मिता तक भी हरता है,
आदमी की दरिन्द पहिचान, ब्लात्[१] परदे से करता है। आदमी.................

कष्ट पीड़ा पहुँचा उल्लास, झूमना, घातक मनस् उफान,
शेखियों की बैशाखी थाम, श्रेष्ठ होने का करे बखान,
जघन परिणामों तक दे चोट, मरे यदि कोई मरता है,
आदमी हुआ आदमी, मान, घात परदे से करता है। आदमी.................

१. ब्लात्-बलात्।

सौम्य बन शान्ति सत्य का दूत, वचन में दे शुभ का सन्देश,
वस्तुतः मक्कारी मद लोभ, सँजोये रहता अन्तर द्वेष,
लाख-उपकारी के निर्दयी, पैर सीने पर धरता है,
आदमी जघन-क्रूर सन्धान, सात परदे से करता है। आदमी................

लूट हिन्सा हत्या अन्याय, डकैती बेईमान अधिकार,
बेबसी लाचारी को कैश, करे शोषण अघ भ्रष्टाचार,
घिनौनी करने में खूँखार, तनिक नहिं रब से डरता है,
आदमी पर-जीवन हलकान, रात, परदे से करता है। आदमी................

माफिया डॉन फिरौती चौथ, भावना भड़काऊ फन्दे,
जकड़कर धर्म-पाश में ज्ञान, निडर करता खूनी धन्धे,
आदमी कहर हुआ हैवान, सितम जुल्मों से भरता है,
आदमी की कुटिला मुसकान, मात सजदे से करता है। आदमी................

२९

नये मुखौटे ओढ़ लिये हैं सावधान गद्दारों ने,
इनकी फिर तारीफ शुरु कर दी है इनके यारों ने,
बेहद बेशरम्, बेहद बेशरम्। बेहद...................

देखो इनकी भीड़ जुटी है इन्सानों की बस्ती में,
जैसे साधू चोर लुटेरे हुये इकट्ठे कश्ती में,
शब्द-कोष से काट के इज्जत, इज्जत बेची सस्ती में,
हो गये नंगे अन्धे बनकर थू थू स्वार्थ-परस्ती में,
मानवता को दिये हैं धक्के, इनके ही गलियारों ने। बेहद...................

जात नहीं है खास कोई, गद्दारी इनकी जात है,
चोर चोर मौसेरे भाई, कर्म घिनौनी घात है,
मित्र द्रोह और जाति द्रोह और संघद्रोह विख्यात है,
आँख बचे तो छुरा भोंक दें इनकी यही बिसात है,
घाव इन्होंने दिये हैं जिनको भरे न वर्ष हजारों ने। बेहद...................

सभा परिषदों की क्या बातें, तोड़े मुल्क जहान हैं,
खोटी नीयत ने प्रचण्ड भी किये खण्ड अभियान हैं,
कागज के टुकड़ों के बदले बेचे धर्म इमान हैं,
आका का थूका भी चाटें, इनसे अच्छे श्वान हैं,
किया है स्वागत जाने फिर क्यों इनका मस्त बहारों ने। बेहद....................

३०

मैंने बहुत टटोला मन को लेकिन अपने नहीं मिले। मैंने................

इक तो अपने मात-पिता थे, इक अपने भगवान्,
स्वार्थहीन अपनापन उनसा मिले न सर्व-जहान,
राह रौंदता और कुचलता-परहित स्वार्थ चले। मैंने................

जिनके पूर्ण-अनीति हेतु-हित, बनते बेईमान,
अपने बनने का अभिनय, करते ऐसे इन्सान,
सौ हित साधे एक सधा नहिं, तुमसे तू निकले। मैंने................

प्रेम प्रीत सद्-भाव न्याय करुणा सेवा सम्मान,
दया, भवन्तू सर्वे सुखिन:, हम के लोप प्रमाण,
घर समाज भाई-चारे के, दरके लोह किले। मैंने................

पुलिस कचहरी जनहित-ऑफिस कार्य-तन्त्र शोषक,
गाँव गली से राजपथों तक जघनी जनसेवक,
व्यथित-राष्ट्र युग-पुरुष कोई आ, भ्रष्ट तन्त्र बदले। मैंने................

घोर अनैतिक अपराधी घाती सत्ता गलियार,
सामाजिक विघटन तक पहुँचे, जन गण के आचार,
मानवता के रिश्ते नाते इक इक ने कुचले। मैंने................

देखो! इस दैवी धरती की, बिखरे नहीं सुगन्ध,
अपनेपन की ज्योति जगा, खोलो हियरा के बन्ध,
नव प्रभात में जो प्रसून की विहँसित पाँख खिले। मैंने................

आप ही आप दिखाई दें, आप ही आप दिखाई दें;
न कोई और हमारा है, न कोई और सहारा है। आप................

माधो आप ठगाइये, और न ठगिये कोय;
ठगा ठगी का खेलना, और कितन दिन होय। आप................

लाख जतन कर आपको, 'ही' में लियो बिठाय;
पर मन के जग फेर का, कोऊ नहीं उपाय। आप................

लोभ मोह के जाल में तड़पे हन्स पुकार;
देह-कर्म की चाल में, फँसता 'मैं' क्यों हार। आप................

जनम मरण के चक्र में, फिरता 'मैं' बेहाल;
घर को छोड़े हो गये, लाख करोड़ों साल। आप................

इन्द्रिय सुख की कामना, है संसारी रीत;
काम वासना क्रोध को, फिर कैसे लें जीत। आप................

चञ्चल चित्त चकोर सा, फिरता है बिन चैन;
तृष्णा सुरसा सी बढ़े, बन जीवन को रैन। आप................

अहम्कार की गर्जना, सहमे करुणा न्याय,
प्रेम भक्ति भी छिप रहें, मारे डर थर्राय। आप................

छल प्रपञ्च का देख लो, कैसा नंगा नाच;
जनसाधारण लौं मुई, इसकी पहुँची आँच। आप................

साईं या संसार की, बड़ी विषैली रीत,
क्रूर भ्रष्ट हत्यार ही, पाव सर्वदा जीत। आप................

त्याग सौम्य शालीनता, मात्र पुस्तकी छाप,
घृणा घात अघ द्वेष का, न तु चहुँ मेल मिलाप। आप................

सत्य धर्म का पालना, दुष्कर या संसार;
सम्बल आप न होवता, इत उत होते पार। आप................

३२

दिल की बात बहुत करते हैं, दिल किसके है पास,
क्या तुममें से किसी एक को, दिल का है आभास। दिल की...........

सीने अन्दर रक्त पिण्ड को दिल कहते हैं लोग,
दिल नहिं अपितु प्राण-वायु का सम्वाहक संयोग,
घृणा द्वेष छल दम्भ पुञ्ज हैं दिल का एक कयास,
लेकिन सच में ये सब भूषण दिल का हैं उपहास। दिल की...........

मान्सल आकर्षण आसक्ती को क्या कहते दिल,
लैला मजनूँ की बातों में क्या रहते हैं दिल,
तीर भेद कर पान-पत्र में चित्रित करें सहास,
दिल के बदले भरी हुई है कामुकता बकवास। दिल की...........

पावन परम प्रेम का तेजस्, दिल मन भावायाम,
शान्ति स्वरूपा अन्तस है दिल जैसे रमते राम,
भूखे पेट पड़ौस देख विह्वलता का अहसास,
दिल चेतनता का प्रतीक सामाजिकता की आस। दिल की...........

दिल करुणा है दिल दयालुता दिल है सेवाभाव,
दे विपन्न को उठा सहारा दिल का सत्य स्वभाव,
दिल ममत्व संरक्षण पितु सम भगिनी सम विश्वास,
व्यवहारों में अपनेपन की दिल है एक मिठास। दिल की...........

बिन विवेक दुर्धर छलाँग दुस्साहस है नहिं दिल,
भाव तरंगों के विस्पन्दन का सागर है दिल,
जीव मात्र की पीड़ा से जो बिलखे होय उदास,
त्रिभुवन-सुख की रखे भावना दिल है वह मधुमास। दिल की...........

निज हित पर-हि त द्वैत अन्त सम्वेदन दिल का सार,
दिल समग्र अनुभूति सुवासित, दिल मैं का विस्तार,
गूढ़ रहस्य पौराणिक वैदिक, जो दिल से ले श्वास,
स्वानुभूति निस्सीम अपरिमित, हो जाती आकास। दिल की...........

३२

वेद पुराण धर्म-ग्रन्थों ने प्रेम तत्त्व सत् सार कहा है,
ढाई अक्षर प्रेम कबीरा बोध ब्रह्म ब्रह्माण्ड कहा है,
ईश्वर प्रेम प्रेम ईश्वर है अविरत कहा साई प्रभु जी ने,
दिया प्रेम आलोक परम के तेज-पुञ्ज की सूक्ष्म किरण ने।

श्रद्धा औ' विश्वास, प्रेम है।
आदर औ' अपनत्व प्रेम है।
अनुभूती अद्वैत, प्रेम है।
परमारथ परदु:ख-कातरता, प्राणी सेवाभाव प्रेम है।
शुद्ध अपेक्षा-बिन आकर्षण विभु सुषमा प्रति सहज प्रेम है।
चिन्तन में व्यापक हित आना तत्त्व प्रेम है।
परदु:ख में समदुख अनुभूती, सत्त्व प्रेम है।
राग द्वेष मोह मिट जाना, मुक्त प्रेम है।
सहानुभूति सद्भाव उद्गति, भुक्ति प्रेम है।
पवित्रता अन्त:करण की कृतित्व प्रेम है।
प्रेरणा सत्य वरण की वृत्तित्व प्रेम है।
परम-आत्म अनुभूति ईश का प्रकट प्रेम है।

कर्तव्यों का बोध सुमंगल जीव जगत् के तईं प्रेम है।
उच्च निम्न सञ्ज्ञान-शून्यता समत्व प्रेम है।
पीर-उदासी निरख खिन्नता, ममत्व प्रेम है।
सभी सुखी हों, मनोकामना भव्य प्रेम है।
स्वार्थहीन परहित सुस्पन्दन, दिव्य प्रेम है।
कथन कठोर किन्तु कल्याणी, कटुता नहीं प्रचण्ड प्रेम है।
इन्द्रिय अनुभव के दृश्यों में, दर्शन आत्म, अखण्ड प्रेम है।
प्रतिपल भास साई अभ्यन्तर चारों ओर अनन्य प्रेम है।
छल प्रपञ्च को छाँड़ि त्याग तप जीवन दर्शन, विरत प्रेम है।
पर प्रति दया सदैव प्रस्फुटित, करुण सम्वेदन नन्द प्रेम है।
श्वाँस श्वाँस अरु गतित रुधिर में शुभ चिन्तन इक शमित प्रेम है।
अमर तत्त्व में भक्तिमयी मन चरम प्रेम है।
लोक कर्म में सत्-पथगतिता ही परोक्षत: परम प्रेम है।

प्रेम एक अद्भुत सुस्पन्दन, देह देह रोमान्स नहीं है।
प्रेम अटूट आत्म-बन्धन है किन्तु एक परिहास नहीं है।
तृषा तृप्ति-हित बढ़ी मित्रता प्रेम नहीं है।
भोग-विषय हित सदाशयता, प्रेम नहीं है।
स्वार्थ हेतु अपनत्त्व प्रदर्शन, प्रेम नहीं है।

अन्तर में कल्मष कषाय, पर बाहर परम-हितैषी दर्शन प्रेम नहीं है।
कर उपकार ढिंढोर पीटना प्रेम नहीं है।
चूम चाटना काम वासना प्रेम नहीं है।
मधुर वचन की कपट मोहिनी, एक छलावा प्रेम नहीं है।
अल्पकाल की स्वार्थ सिद्धि है, प्रेम दिखावा प्रेम नहीं है।
अहम्कार का अन्त प्रेम है, मन का होना सन्त प्रेम है।
संयुज स्व से कन्त (ईश्वर) प्रेम है।

३४

ये मेरा तुम्हारा किसी का नहीं, ये सबका है सबका रहेगा वतन। ये मेरा........

न हिन्दू न मुस्लिम न सिख पारसी; न गौतम के बेटों की ये भारती।
ये देवों की भूमी पे उतरा था जो; मनुज था मनुज की करो आरती।
ये मेरा तुम्हारा किसी का नहीं; ये सबका है सबका करो तुम नमन॥ ये मेरा........

ये यू॰पी॰ ये केरल ये पन्जाब है; अलग बोल भाषा का अन्दाज है।
ये किसने कहा हम जुदा हो गये; एक थी, एक ही मन की आवाज है।
ये मेरा तुम्हारा किसी का नही; ये सबका है सबका रहेगा चमन॥ ये मेरा........

ये 'गुरु ग्रन्थ साहब' ये गीता कुरान; ये बाइबिल हमारी तुम्हारी है शान।
सिखातीं मनुज-धर्म ही प्यार है; मनुज चाहे कितने हों, इक है इमान।
ये मेरा तुम्हारा किसी का नहीं; ये सबका है सबका रहेगा रतन॥ ये मेरा........

ये सूरज की गर्मी ये चन्दा का प्यार; ये फूलों की खुशबू, ये मौसम बहार।
ये कलियों की कोमलता, कोयल की कूक; बँटेगा नहीं मातु-भारत दुलार।
ये मेरा तुम्हारा किसी का नहीं; ये सबका है सबका, रहो एक बन॥ ये मेरा........

३५

मेरे घर का भगवान् अलग, तेरे घर का भगवान् अलग;
बस यही सोच दे बैठी है, देहर देहर को मान अलग॥ मेरे घर........

करनी चिन्तन औ' राजनीति, हो गयीं संकुचित स्वार्थपरक;
मद घृणा क्रोध मत्सर अधीन, हम भोग रहे हैं घोर नरक;
तलवार तनीं इक दूजे पर, वर्गों के हैं फरमान अलग॥ मेरे घर........

कोउ हिन्दू मुस्लिम ईसाई, कोउ सिक्ख बौद्ध सत्यानासी;
लगता इनमें से कोई भी, है पूत नहीं भारतवासी;
संस्कृति विशाल उदात्तमना, कहती, कब हैं सन्तान अलग। मेरे घर.......

इतिहास साक्ष्य है तुम सब हो, सन्तानें ऋषियों मुनियों की;
जिनके आदर्श करें इंगित, सच सत्ता एक योनियों की;
है इसीलिये भूमण्डल में, भारत माँ की पहिचान अलग। मेरे घर.......

है हाड़ मान्स शोणित समान, तन की निर्माणी भू जननी;
पावन धरिनी में 'भा' भगवत्, उसमें 'रत' तेज आत्म-अगनी;
तब सबको बैठ सोचना है, नहिं अलग अलग इन्सान अलग। मेरे घर.......

३६

फाइलों में बन्द है किस्मत करोड़ों की,
आदमी से ज्यादा कीमत ईंट रोड़ों की,
भूख को ठगना सरल अब हो गया है,
आँकड़ों में रह गई बस बात जोड़ों की।

असलियत को खा गये हैं आँकड़े जाली,
फाइलों में देख लो गतिमान खुशहाली,
खाक रौनक जन्म लेगी पल्लवित होगी,
जब जड़ों को स्वयम् खाये बागवाँ माली।

बन गये कानून बेबस औ' बिचारौं के लिये,
विषधरों ने सोमरस के हाथ में प्याले लिये,
करके सौदा न्याय का निर्द्वन्द लाशों पर चलें,
शक्ति धन की गुण्डई सत्ता की चंगुल में लिये।

भ्रष्टता को जब उपाधी फर्स्ट की मिलने लगे,
नींव ढाँचा 'भू' का समझो, थरथरा हिलने लगे,
भरभरा ढहने में उसको है तनिक ठोकर बहुत,
राष्ट्र के शुभचिन्तकों की चेतना तब तो जगे।

जब लफंगों को सुरक्षा की व्यवस्था दी गई,
डोलियों की समझो अस्मत उस समय लूटी गई,
जानते पहिले भी थे होगा, सभी परिणाम को,
क्यों करों कसवार के फिर गौ पगा सोंपी गई।

क्राइम क्राउन कैश करप्शन काम्बीनेशन कायम करना,
कमिटमेंट कन्ट्री-कन्डक्टर(नेता) को कसाई का कृत्यम् करना,
यद्यपि अपरिहार्य मानव में कीर्ति कामिनी कनक कामना,
है भयावना नेतृत्व का, फिर भी, अंकुशहीन विचरना।

कितना ही अपमान सहनकर, कितना ही नुकसान उठा,
मान ले मेरी, लाभ रहेगा, पास पुलिस के कभी न जा,
राजकीय हैं पञ्जीकृत हैं, क्या हैं मुझसे पूछ न तू,
कितने पूछ व्यवस्था-रक्षक, जन जन की पीड़ा से जा।

जिसके हाथ व्यवस्था दे दी, वही निरंकुश ताज हुआ,
सन्तापी सन्त्रास क्रूरता निष्ठुरता जनराज हुआ,
ऊपर से नीचे छन आयी जघन भ्रष्टता की करनी,
सम्पद् पद अधिकार स्वार्थ सुख, घोर ताण्डव आज हुआ।

बिना किये सुख चैन चाहना, मन की प्राकृतिक थ्योरी है,
हाथों को अधिकार मिले तब, दुरुपयोग की बरजोरी है,
स्वार्थ साधनारत् मानस को, संयम में लाना ही होगा,
नीति विधान कठोर, सुपालन, न तु है ढोंग, नरक मोरी है।

प्रजातन्त्र की पकड़ पकड़ पाती कब अत्याचारों को,
गलियों के अपकर्म, बाहुबल, सत्ता के गलियारों को,
तत्क्षण दण्ड व्यवस्था, वह भी, हो कठोरतम दृढ़ता से,
राष्ट्र आत्मा दम दे देगी न तु छल कपटी कारों को।

घूस कमीशन लूट घोटाले जहाँ माप सम्मान की,
करणधार अघस्रोत व्यवस्था शोषण बे-ईमान की,
चोरी झूठ घात प्रतिघातें पर-विनाश की भाव दशा,
प्रजातन्त्र किसके बल जीवित, बात बड़ी हैरान की।

प्रजातन्त्र आदर्श है व्यवहार नहीं है,
भाव-शुचि से, तन्त्र का, सरोकार नहीं है,
श्रेष्ठ उत्तम आचरण सहमा प्रताड़ित ही रहे,
धन के बन्दर बाँट का व्यापार यहीं है।

सर्वोत्तम निकृष्ट व्यवस्था लोकराज है,
सत् चरित्र अन्तस पर, इसकी टिकी लाज है,
सुखी राष्ट्र हो, स्वस्थ कल्पना कैसे सम्भव,
जन मन में जब घोर भ्रष्टता का विराज है।

जनतन्त्र शासन व्यवस्था नहीं है अपितु उच्च चरितों की जीवन की शैली
वचन में करम में विचारों में संयम, जहाँ स्वानुशासन की सत्ता ही फैली
अनैतिक करों को हैं अवसर ही अवसर, निरंकुश पगों के सभी पथ खुले हैं
मिले हक, रहें लिप्त अपराध में जो, करें इसकी सूरत घिनौनी व मैली।

निम्न उच्चतम पञ्चायत में इक इक लोक निधि को खाये,
घूस कमीशन की तकनीकी, नित्य नवीन आचरण पाये,
पूर्ण व्यवस्था में ढूँढे भी मिले सत्य की एक न चिनगी,
इक दिन निश्चय ही समझो तुम ऐसा राष्ट्र गर्त में जाये।

न्याय विधान प्रबन्ध व्यवस्था, जनसेवक हैं,
जन-कल्याण सुमंगल नौका के खेवक हैं,
प्रजातन्त्र में किन्तु छोड़कर सत् सेवा को,
भ्रष्ट जघन्य स्वार्थ-हित ये ही बनते वक हैं।

जनसेवक से सदाशयता सत्चरित्र की आशा करना,
घुप्प अँधेरे में सूरज को जैसे व्यर्थ तलाशा करना,
ग्रामसभा से राष्ट्रसभा तक , स्वाभाविक है पावनता को,
लोकतन्त्र के खम्भों द्वारा तोला रत्ती माशा करना।

तुमने देखा मैंने देखा जो कोई भी देख रहा है,
निगल रहा है गहन अँधेरा, जो प्रकाश भी शेष रहा है,
जागृत कर लो सुप्त-चेतना, युग पुरुषो! घर घर का दीपक,
प्रकाशो! जो सदाचार के तेल बिना नहिं चेत रहा है।

जिसने जीवन-भर चोरी की, उसके स्वर में जान कहाँ है,
बेचा स्वाभिमान चाटुक बन, उस जीवन में आन कहाँ है,
भ्रष्ट आचरण के बल जिसने, एक दायरा खड़ा किया हो,
मुँह पर कोई कहे नहिं कहे, ऐसे का सम्मान कहाँ है।

चाट चाट कर आका तलवे, ऊँचे कद के मद का भ्रम हो,
स्वाभिमान गिरवीं से अच्छा, मेहनतकश बन, स्वर्गिक श्रम हो,
आपद् काले करें किनारा, तथाकथित अपने भी उससे,
असत् चुगलखोरी मक्कारी, के बल भले उच्च ही क्रम हो।

इन्द्रिय-जनित लालसाओं के, भोग भोगते आये तो क्या,
बैठ निठल्ले समय गँवाया, यहाँ वहाँ गपियाये तो क्या,
नहीं विचारा कभी, मिला है नर तन किस मञ्जिल को पाने,
मानवता को मार हस्तियाँ, छोटी मोटी पाये तो क्या।

कितने ही हो तुम बुद्धिमान, चालाक चतुर या सावधान,
आँखों से स्वय् झाँकता है, छल असत् ढोंग अघ भीतिवान्,
नित नित नव चेहरों का जीवन, अपराध जगत् के द्वारे हैं,
इतिहास साक्ष्य है चेहरे ही, दुख अजय पराभव दें अमान (असीम)।

रोटी भूलें मिट्टी खायें, मिट्टी प्रमुख तत्त्व है तन का,
सार्वजनिन लें सर्वसुलभ को, करना सीखें निग्रह मन का,
घास पात भी अति सीमित हैं, वर्ग-प्रबन्धन भी कुछ लेगा?
अन्न सब्जियाँ नेताओं को, आखिर उन पर बोझ वतन का।

अब तक जिस पथ चलते आये, प्रिय उसके विपरीत चलो,
सत्य धर्म सहयोग अहिन्सा शान्ति प्रेम की रीत चलो,
अनाचार अन्याय अघभरी आँधी में सुख मरु का जल है,
पराघात छल कपट छोड़, बन चिन्तन तर्क विनीत चलो।

एक जगेगा कुछ नहिं होगा, उठो! सभी को जगना होगा,
प्रजातन्त्र को किया घिनौना, उस लगाम को कसना होगा,
शासन प्रशासन जनता के, अपराधी हाथों को रोको,
हक पाने में तभी हाथ में, साफल्यों का कँगना होगा।

अन्याय से बटोरा, वैभव नहीं रहेगा,
यश मान मिथ्य गौरव, प्रासाद खुद गिरेगा,
दिन देर है अगोचर, सत् न्याय का सदन ही,
करतब सदासदों का, समुचित हिसाब देगा।

छल बल से हक किसी का, लेना है बेईमानी,
चोरों की शृंखला में, क्या जुड़ना बुद्धिमानी,
अब छोड़ दो सताना, मानव हो मानवी हो,
'मैं कौन हूँ' इसी की, पहिचान है बनानी।

जो आज बहुत खुश है, अन्याय के सुफल से,
चातुर्य की कला के, नैपथ्य छिपते छल से,
कल ये कथित चतुरता, नहिं साथ दे, सजग हो,
सम्भव न बचना न्यायिक, सपरोक्ष सत् अनल से।

पाखण्ड छल कपट से, धोखा किसे दिये हो,
षड्यन्त्र की सफलता, पर मोद किसलिये हो,
खुद ही खुदी को धोखा, विधि न्याय से विदित हो,
तब खुद से खुद कहोगे, पढ़ते क्यों मरसिये हो।

अन्याय की अगन के, समझा न तापमाँ को,
निर्द्वन्द मसला कुचला, बेबस अबल जहाँ को,
सह लेता भुक्त भोगी, विधिता की आश्रिता में,
देखोगे किन्तु इक दिन, जलता ही आसमाँ को।

अपकार अत्याचारी , होते नहीं सुभागे,
कुछ दिन प्रतीत होता, हैं भाग उनके जागे,
अपने कथित भी बचते, संयोग टूटते हैं,
फलितार्थ दुख ही होता, औचित्य जिसने लाँघे।

अपकर्म एक करते, सत्कर्म लगते जाने,
पल छिन घड़ी पहर में, लगते हैं पर लगाने,
अन्तर में झाँकने पर, देखेगा आप ही तू,
जो शेष बच गये थे, वे भी लगे ठिकाने।

अपकार करते करते, ऐसा न हो निगोड़े,
लखकर तुझे नरक भी, कहीं नाक मुँह सिकोड़े,
कर वर्य सेवा करुणा, उपकार कार में ही,
कायिक गमन में काँधे, न तु पड़ रहेंगे थोड़े।

करनी करी न ऐसी, जिससे चमन हरा हो,
क्षुब्धा तृषा ही होंगी, कारण न जब खरा हो,
आचार ऐसे करिये, धरनी में दिव्यता के,
व्यक्तित्व जिससे सरजें, जिनमें नमन भरा हो।

जीवित हि रहने दे तू, अन्तर की वैभवी को,
चैतन्य के विभव की, रमणीक सन्दली को,
सत् प्रेम सेवा मंगल, परमार्थ ही किये जा,
अपकर्म करने विष हैं, जीवन्त शिव शिवी को।

बिन काम के किये ही, जो ले रहे मजूरी,
निश्चय ही मर चुकी है, अन्तर बसी विदूरी,
इस चौर्य कर्म का धन, पोषेगा देह जो भी,
उनमें कुफल जनेगा कुछ काल की है दूरी।

मन्दिर की सीढ़ियों पर, क्यों सिर खड़ा टिकाये,
अन्दर के विग्रहों से, कहता क्या बुदबुदाये,
छोड़ी न हिन्सा छलना, हित-ठगनी बेईमानी,
तब विग्रहों को धोखे या खुद से खुद ठगाये।

परिवेश में चतुर्दिक, कुहराम मच रहा है,
मर्यादिता उल्लंघन, मति को गपच (गपक) रहा है।
भारी है अर्थ, रिश्तों के शील सौमनस से,
रोको उसे हृदय की, जड़ जो खुरच रहा है।

दुनिया बहुत भली है, आपा ही इक बुरा है,
सन्तों के इस कथन में, कुछ है जो छिप रहा है,
परगुण ही ढूँढों धारो, दुर्गुण निजी बिसारो,
निहितार्थ आचरित का, जीवन ही रस भरा है।

तेरे जतन से तुझको, परिणाम सद् मिलेंगे,
धीरज से डग धरे जा, पग पग पवन बनेंगे,
यदि ध्येय हो सुनिश्चित, सम्भव है वेधना भी,
अन्त: की शुचि विमल से, संकल्प सब फलेंगे।

सापेक्ष रह गयी हैं, विश्वास की लकीरें,
कल्याण सत्यता की, सब चुप गयीं सुगीरें (श्रेष्ठवाणी),
निरपेक्ष मूल्य उर में, विकसेंगे जिस पहर से,
होंगी अनय की खण्डित, तब बज्र शाहतीरें (गर्डर)।

सन्तोष शान्ति मिलती, अपने हि श्रम के बल से,
कल्याण हो सकेगा, व्यवहार में विमल से,
जिसने न देखा जग में, कर्तव्य कर्म क्या है,
वञ्चित रहा है वो ही, चिन्तन गो उर अमल से।

सम्मान की जो बातें, ग्रन्थों की लेखनी में,
आयीं नहीं कहीं भी, बच्चों की देखनी में,
कर्मों के धर्म तज दें, जब गुरु समाज के ही,
तब व्यर्थ बालकों को, ढूँढें परेखनी (मूल्य परीक्षा) में।

होती है इस जहाँ में, हर एक की कहानी,
मोड़ों पे जिन्दगी को, पड़ती व्यथा मनानी,
पर आदमी वही है, चित से हटा सके जो,
छूटी हुई उदासी, रिसती हुई निशानी।

तन उठ मिले धरा से, क्या याद क्या विफरना,
उठने को इस जहाँ में, भरसक प्रयास करना,
प्रतिभा प्रखर शिखा को, तब ही तो पा सकेगी,
उस निज नियति को ज्ञानो, अविरल है जिसका झरना।

उस आदमी को ढूँढिये मत, जो चला गया,
यदि ढूँढना है ढूँढिये, कर क्या नया गया,
कुछ सीढ़ियाँ जो दे गया, चढ़िये चढ़ाइये,
तब इस धरा के कीजिये, शुभ हेतु कुछ नया।

दुष्टता को दुष्टता से मारिये नहीं,
दुष्टता कुछ भी करे पर हारिये नहीं,
सहिष्णुता सत्-मार्ग श्रेष्ठ शमन के लिये,
पर निज विचार-शोध को बिसारिये नहीं।

तोड़ना आसान है, है जोड़ना कठिन,
सब बनेंगे एक, तुम भी, देखना मिट घिन,
हैं सभी भाई, सुखी हों, कामना करो,
विश्व, गाँव इक बनेगा, आयेगा सुदिन।

३७

बेईमान चेहरे से आभा जाती रहती है;
अरु इमान के मुख पर दृढ़ता आती रहती है। बेईमान.......

जैसे ही ये सुना मुखौटों ने देखा दर्पण;
लगे बढ़ाने ओढ़ शीलता चुँदरी आकर्षण;
लेकिन कृत्रिमता थिर थायी पल छिन रहती है;
कारण अन्तर कल्मष धारा अविरल रहती है। बेईमान.......

लाख श्रेष्ठ बन लो दुनिया की आँखों में श्रीमन्;
सच को करता रहे उजागर उद्वेलित निज मन;
चेतन पट पर अघ छाया मँडराती रहती है;
अध:-पतन पर कलुष वृत्ति मुसकाती रहती है। बेईमान.......

बेइमान आधार असुरता औ' इमान का देव;
बनना आसुर, है कि देवता, चुन लो तुम स्वयमेव;
न्यायिक पथ को कुटिल कामना खाती रहती है;
अन्तस की सुन कर्मपूर्व चिल्लाती रहती है। बेईमान.......

खाक बड़प्पन की चाहत में खो बैठे जो तुम;
देह नहीं देही स्वभाव से गुण-मन्दिर कुमकुम;
जगासक्ति आकर्षण बन भरमाती रहती है;
प्रेम -पुष्प, सद्भाव सत्यता पाती रहती है। बेईमान.......

३८

मन मन्दिर सब कहते लेकिन कब होता है मन्दिर मन,
मन मन्दिर हो जाये सच में, किसने ऐसा किया यतन। मन.............

कीट पतंगे धूम्र परत से मुक्त स्वच्छ आलय मन्दिर,
ईर्ष्या क्रोध घृणा निन्दा का, साफ मैल सो कर फिर फिर,
रज अज्ञान बुहरते लखती, आत्मशोध प्रज्ञान किरन,
मन मन्दिर कल्मष कषाय हो, उर निर्मल में होम हवन। मन.............

मन्दिर अमित प्रशान्ति निलय है, लोभ मोह, कुण्ठा कारण,
मन मन्दिर कैसे पथ प्रहरी, हो, जब भोगेच्छा धारण,
मन मन्दिर बन जाये अगर हो, अनासक्ति से काम शमन,
मन मन्दिर जब अहम् वासना, तृष्णा मन से होंय हिरन। मन.............

प्रतिमा-परम प्रत्यक्ष सत्य, मन्दिर श्रद्धा निष्ठा विश्वास,
आत्म, प्रकृति, जीव, जीवन में, जड़ के कण कण चेतन पास,
मन मन्दिर आत्मन् को चढ़ने, लगते हैं जब भाव सुमन,
भाव भूमि पर नत हो होता, आत्मतत्त्व से आत्म मिलन। मन.............

विनय विवेक उदारचित्तता, पावनता पथ बना अपन,
मन मन्दिर हो जाये सहज ही, त्यागराज ज्ञानेश्वर बन,
मन मन्दिर शालीन नम्रता, शील सौम्यता पूर्ण सदन,
मन को मन्दिर बना लिये थे, तुकाराम अरविन्द रमन। मन.............

क्षमा शीलता न्याय सहनता, सुस्पन्दन पूरित हो मन,
प्रेम दया सहयोग कर्म का, करता हो मन अभिनन्दन,
एक पूर्णता हुई प्रस्फुटित, दृश्य अदृश्य बने चिन्तन,
मन मन्दिर, हो जाये सुवासित, करुणा से जब उर आँगन। मन.............

मन हो भव्य परिष्कृत गौरव, गरिमा संस्कार सागर,
अनाचार-प्रतिकार पुञ्ज हो, स्वाभिमान आदर आकर,
गूँगी चीख सुन सके कुचले, दमित दबे की, सजग रतन,
अभय प्रदाय, नीति रक्षण का, मन-मन्दिर लक्षित जीवन। मन.............

सामाजिक आस्थायें जीये, स्नेहिल बाँटे अपनापन,
समता समरसता सुहार्द के, पुष्पित कर सान्निध्य वचऩ,
मन मन्दिर हो ऊर्जा दे जब, सबको उसकी नेह तपन,
मन मन्दिर तब, व्याकुल कर दे, पर-पीड़ा की एक चुभन। मन.............

राग-विमुखता शरणागति से, इच्छाओं का परिसीमन,
'मैं' साक्षात हेतु, निज मैं का, करना होता परिशोधन,
मन के मन्दिर हो जाने पर, जैसे मीरा हुई मगन,
मन्त्रमुग्ध-मन मन्दिर होगा आत्म, शरण करके अरपन। मन.............

दिव्य विस्फुलिंग भासित आहट, करने लगे आत्म दर्शन,
आत्म सिन्धु के सुस्पन्दन की, कुलक बने हृदय पिघलन,
निजानन्द में डूबे रहने, को, करती हो मन सिहरन,
उस विराट् की भव्य ज्योति से, तब होता है मन्दिर मन। मन.............

३९

खोलो मन के बन्द किवाड़े/ होने दो अनुभूति विशाल;
होने दो अनुभूति विशाल, होने दो अनुभूति विशाल। खोलो.......

सभी संकुचे भाव बदल दो/उन्नति पथ चलने दो चल दो;
कलुष वृत्ति कल्मष कषाय के, नत हो बुहरो जाल। खोलो.......

क्षुद्र-बहाने स्वार्थ-पूर्ति हित/काम, क्रोध करते मलीन चित;
मैं में थित उस कर्तापन को, बिसरो रे तत्काल। खोलो.......

अनाचार अन्न्याय अधर्मी/क्योंकर हो अपचारी कर्मी;
अघ शोषण के विविध रास्ते, बेइमान वाचाल। खोलो.......

दिन में सौ सौ बार मरे हो/जब भी करनी जार करे हो;
किया अनसुना अन्तर स्वर को , हठि हन्ते जंगाल। खोलो.......

अतिशय सञ्चय मान प्रलोभन/देता लूट डकैती दोहन,
षड्यन्त्रों से धनपति फिर भी, हुआ न कोइ निहाल। खोलो.......

जैसी करनी वैसा ही फल/आज नहीं तो निश्चय ही कल,
चोट, पराभव, रोग, शोक जब, आयें करे मलाल। खोलो.......

रिश्वत भेंट कमीशन हफ्ता/शोषण हिन्सा क्या सुख सत्ता,
नहिं बेचो आत्मन्-गरिमा, कुछ, पाने को टकसाल। खोलो.......

आलोचन निन्दा सलाह में/लगे, लगे नहिं कर-निर्वाह में,
कर्तव्यों दायित्वों को क्यों, मन से दिया निकाल। खोलो.......

सुमन -पाँख जीवन्त सुगन्धित/स्वयम्-मूल यदि जुड़े पल्लवित;
नैतिकता प्रज्ञान विरासत, होकर भी कंगाल। खो

त्रिगुणी माया तृष्णा सुरसा/लिप्त घोर जग कुटिला लिप्सा;
कौन प्रयोजन हेतु देह-नर, पायी मेरा सवाल। खो

ढोंग प्रपञ्च कपट छल धोखा/अनय अघों का सुख भ्रम-थोथा;
कीर्ति कामिनी कनक पङ्क से, उबरो सरिस मृणाल। खो

मन ही बन्धन का कारण है/मुक्ति प्रदाता दुख हारण है;
मन उद्भूत मोह के क्षय से, मिटें लोक जञ्जाल। खो

हो समाज से विरत न त्यागो/द्वेष मदान्ध घृणा से भागो;
सृष्टी के पुलकित चेतन को, सेवो बड़े सँभाल। खो

क्यों बनते परहित सन्तापक/करुणा दया विनय हो व्यापक;
शान्ति प्रेम वाहक तेजोमय, बनो सत्य की ढाल। खो

करिये ज्ञान जलाशय निर्मित/अमित अचिन्त्य निमग्न हेतु हित;
न्याय शिष्टता विहित उदित हों, दुर्लभ आत्म-प्रवाल। खों

सदाचार सन्तोष सहनता/सहजो अन्तस दिव्य शीलता;
देही हो तुम अणु विराट्, नहिं, मान्स रुधिर कंकाल। खो

श्रद्धा भक्ति विराग नम्रता/विमल हृदय सिमटो उदारता;
ऋषि गौरव चिन्तन पूरित तुम, भारत माँ के भाल। खो

पक्षपात आलस्य मूर्खता/हरें वैयक्तिक शिव सुन्दरता;
'मैं' में सरसो, है इक 'मैं' ही, रूपानन्द कृपाल। खो

मैंने खोजा वही खजाना, जिससे जीवन स्वर्ग बने;
जीवन स्वर्ग बने, जिससे जीवन स्वर्ग बने। मैंने...........

काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, जीवन नैया के छेद;
मत रिसने दो डूब जाएगी, कहते थके न वेद;
छल पाखण्ड कपट से पंकिल, धोलो माथ सने। मैंने...........

मर्यादा से परे कर्म अपयश अपराधी है;
चिन्तन दर्शन भ्रष्ट करे परनिन्दा व्याधी है;
जीभ नियन्त्रित बन्द खुले रख कान आँख नथुने। मैंने...........

प्राण लुटाकर दायित्वों कर्तव्यों का निर्वाह;
सेवो नित्य अभावी जीवन, डूबे आँसू आह;
मत्सर छाँड़ि निजत्व खोज में, खर्चो पल जितने। मैंने...........

चिरानन्द प्रासाद खम्भ हैं, सत्य धर्म औ' त्याग;
शान्ति हेतु निष्ठा, मानवता का है मंगल राग;
प्रेम सुधा ईश्वर है जिससे, बनते सब अपने। मैंने...........

विजय, पराजय, हानि, लाभ, यश, अपयश आते हैं;
धैर्य समत्व भाव से नर के, ऐसे जाते हैं;
छटते वेग प्रचण्ड पवन से, जैसे मेघ घने। मैंने...........

कष्ट मुसीबत, कठिनाई शिक्षा के अवसर हैं;
घोर निराशा के पल प्राणी के अपने कर हैं;
सन्साधन से परे सजाओ, अपने मत सपने। मैंने...........

लालच, स्वार्थ, कुटिलता, तृष्णा से बन्धन उद्भूत;
शुचिता, विनय, शीलता, श्रद्धा परमानन्द विभूत;
सोचा, छोड़ा वही बहाना, जिससे जीवन नर्क बने। मैंने...........

सत्ता-परम सतत् कल्याणी, नित्य चिरन्तन 'मैं';
मैं तुम का अद्वैत समाहित, है जड़ चेतन में;
फाफानन्द फकीर 'बुद्धि' से, पूछो जने जने। मैंने...........

ब्रह्म-तत्त्व सम्पूर्ण

दे जग के जड़ रूप को, आकर्षक आलोक।
गति पावें धी इन्द्रियाँ, जिससे, उसे विलोक॥०००१॥

हैं सागर की बूँद में, गुण समस्त विदमान।
तस तन में, तन बाहरे, सरल देख! भगवान्॥०००२॥

स्वयम् प्रवर्तक सत्य का, है वह शाश्वत सत्य।
वही सत्य प्रारूप है, सबका सत्, सत् तथ्य॥०००३॥

कर उपाय जिनसे मिटें, चित-अघ मनस्-मलीन।
यही वस्तुत ईश के, हैं रे! भजन अहीन[१]॥०००४॥

आज्ञा विभु बन-सृष्टि दे, कर पर-हित स्वीकार।
तब मन उर स्वाधीन हो, पावें दृष्टि निखार॥०००५॥

ईश हेतु जो स्वयम् के, चित-पट देता खोल।
खुलते ऊर्ज अनन्त के, पट उस हेतु अतोल॥०००६॥

ईश्वर आश्रय में रहे, ईश्वर का प्रिय होय।
ईश उर बसें ऐस के, सभी दोष दें खोय॥०००७॥

चेतो[२] में तन को रखे, कुछ तन के अतिरिक्त।
होता सिद्ध कि है वही, मैं भी, चेतन-पृक्त[३]॥०००८॥

मानव ईश स्वरूप है, सो है सर्व समर्थ।
आवश्यकता मात्र है, करे प्रयास सदर्थ[४]॥०००९॥

शौच कर्म करते हुए, मन हो विमल पवित्र।
तब इन आँखों से परे, देखे घटित चरित्र॥००१०॥

---

१. अहीन-श्रेष्ठ; २. चेतो-चित्त, सञ्ज्ञा; ३. पृक्त-धन; ४. सदर्थ-साध्य सिद्ध होने योग्य।

विक्रम हर्ष उदारता, जीवट नन्द उछाह।
ईश्वर के ही भाव हैं, प्रेम-पुलक, निर्वाह!॥००११॥

परिचय दे नर रूप का, प्रेरे कर कर्तव्य।
तत्त्व विवेचन कर, मिले, सम्यक् बोध असव्य[१]॥००१२॥

पावन रखते स्वयम् को, रख ईश्वर का ध्यान।
दुगुना उन पुरुषार्थ हो, पाव पूत उत्थान॥००१३॥

सब कुछ चिन्मय है, दिपे, अनुभव में, जो सृष्टि।
राग द्वेष में पर उसे, जड़ देखे चित-दृष्टि॥००१४॥

जो है सृष्टा सृष्टि के, नियमों से अनभिज्ञ।
उत्तम जीने के लिये, बन वह सके न विज्ञ॥००१५॥

निज दोषों की ढूँढ में, हैं रत, रहें निकाल[२]।
निश्चित विभु की ओर है, चलें! आपकी चाल॥००१६॥

देने से उपदेश, है, नीक ईश का ध्यान।
यही अपर उपदेश है, जग-हित क्योंकि भवान्॥००१७॥

भूलें मात्र सुधारना, परख पकड़, चित चोर।
यह मार्ग ले जायेगा, रे ईश्वर की ओर॥००१८॥

सकल सृष्टि है ईश का, एकल[३] रूप विशाल।
सो आशय विभु भक्ति का, बने जीव प्रतिपाल[४]॥००१९॥

शान्त सुखी मन हो सके, रह सम, तज जग-सक्ति।
दूजी सुख आगार है, ईश-भक्ति में रक्ति॥००२०॥

ईश-तत्त्व है सो रखे, नर असीम गुण शक्ति।
विकसें उस सहयोग से, गुण, सो कर विभु-भक्ति॥००२१॥

---

१. असव्य-अनुकूल; २. निकाल-बाहर करके रहें; ३. एकल-अद्वितीय;
४. प्रतिपाल-रक्षक।

हो यदि, विभु सर्वत्र हैं, अन्तः भगवद्भाव।
स्वतः सुगुण तब प्राप हों, दुर्गुण हटें दुराव[१]॥००२२

देखें प्राणी मात्र में, ईश्वर को विदमान।
दुष्ट-मान्यता पाप का, हो तब स्वतः विहान[२]॥००२३

है अध्यात्म विधान में, हाथी चींटी एक।
यह सच ही जग-दृष्टि में, जगे सुकर्म-विवेक॥००२४

आती है निर्भीकता, कर ईश्वर विश्वास।
करे, अकल्मष चित्त हो, तब चित-दृष्टि विकास॥००२५

धर्म ग्रन्थ दें सान्त्वना, मृत्यु श्रेष्ठ उपदेश।
बन्धु सखा सा साथ दें, जग में मात्र परेश॥००२६

होने पर अपकार के, करे न पश्चात्ताप।
तब नर लघुता क्षुद्रता, जीता, बिछुड़े आप[३]॥००२७

ईश्वर सुधि श्रद्धा लगे, जिनको बात अकार्थ।
विस्मय, प्रिय उसके लगें, फिर क्यों रचे पदार्थ॥००२८

योग वस्तुतः ईश को, लेना अपना मान।
पर कुछ भी की चाहना, विभु से, भोग पुमान्॥००२९

दे खग, शिशु को नीड़ से, गिरा, उड़न की सीख।
न थक! दशाएँ वाम दे, तस विभु दें नव-दीख॥००३०

शील सदाचारी बने, नर सहिष्णु बलवान्।
घोर विपद् प्रस्तुत करे, सो सम्मुख भगवान्॥००३१

करम परख निज, ईश को, तत्पश्चात् पुकार।
उद्योगी के ही बनें, ईश्वर क्योंकि सहार॥००३२

---

१. दुराव-छल; २. विहान-अन्त; ३. आप-आत्मा, परमात्मा।

रखना निरत, उपासना, है विवेक की स्रोत।
शोक हर्ष होने न दे, तब विवेक की ज्योत॥००३३॥

निज कल्मष ज्ञानाग्नि से, जला, स्वयम् हो दीप्त।
सक्ति-मुक्त इह-लोक में, तब हो उस मन-क्षीप्त[१]॥००३४॥

नश्वरता के पाठ से, हो वश में मन-लोभ।
रोक वासना का सके, पर संयम, विक्षोभ[२]॥००३५॥

कभी न पश्चात्ताप हो, मिले सर्वदा शर्म।
साक्षी रख भगवान् को, पूर्ण करें यदि कर्म॥००३६॥

चित की मनुज-महानता, सद्गुण का बाहुल्य।
चिन्तन-संयम-पूतता, हैं विभु के ही तुल्य॥००३७॥

विभु सौन्दर्य-अनन्त है, क्योंकि सिन्धु गुण-स्रोत।
करना सत्-सौन्दर्य से, सो निज चित को ओत[३]॥००३८॥

मिले न सुख, संसार से, जब चित-नात प्रगाढ़।
नात टूटते ही मिले, पर सुख, हट दुख-धाढ़[४]॥००३९॥

जिन कसौटियों से करे, नर की परख परेश।
वे कस जिन चित में, दिपे, उनें ईश बिन क्लेश॥००४०॥

समझे, कैसे पा सके, तन नारायण शक्ति।
बने स्वर्ग जीवन उनें, कर्म बनें विभु भक्ति॥००४१॥

मम-हित नहिं विभु हेतु है, समझ साधना साध[५]।
सिद्ध साधना हों सभी, तब अवश्य बिन राध॥००४२॥

जीभ छुवन विभु नाम से, करे पाप का नास।
मन उर बुद्धि विवेक का, तब हो पवित विकास॥००४३॥

---

१. क्षीप्त-चञ्चल; २. विक्षोभ-आतंक; ३. ओत-गुँथा हुआ;
४. धाढ़-विलाप; ५. साध-पूरा करना।

जड़ चेतन की सृष्टि का, स्रोत विचारें साथ।
जग को तब उठ ही पड़ें, स्वर्ग बनाने हाथ॥००४४॥

विग्रह की सेवा करें, जीवित को दें ठेल।
पर जो सेवें 'जी'[१], उनें, दें प्रभु प्यार उड़ेल॥००४५॥

सिद्ध काम प्रत्येक को, कर सकता प्रत्येक।
आवश्यकता मात्र है, गुरु साधे सद्[२]-एक॥००४६॥

ईश सर्वतः देखता, जिसे ज्ञान विश्वास।
उसमें कल्मष वृत्तियाँ, टिकते नहीं विलास॥००४७॥

कितने दिन की है सखे, जग की तव पहिचान।
कर सो वह जो पा सके, प्रभु-उर से कुछ मान॥००४८॥

सद्मति करें सुभाव से, नित अपने सब काम।
साँची यही उपासना, है प्रभु की अविराम॥००४९॥

बनें, बन्ध से मोक्ष के, बँध, कृत जीवन प्राण।
करते तभी स्वजीव का, परम परम-कल्याण॥००५०॥

औरों को सत्-ज्ञान से, सदा सुपथ पर लाय।
है वह नर ऋषि कोटि का, जन-शुभ पोषक धाय॥००५१॥

मिटते मनस् मलीनता, हटकें[३] अन्तः पाप।
अस उपाय भी, जैस हैं, भक्ति भजन प्रभु-जाप॥००५२॥

ईश अन्श सब, प्रेम से, उन सेवा सत्-धर्म।
कर्तव्यों की साधना, पर करना सत्-कर्म॥००५३॥

मैं मेरा का जो करे, सम्बोधन, पहिचान!।
सबमें सबका है यही, मैं, आत्मा, भगवान्॥००५४॥

---

१. जी-जीव; २. सद्-उचित, उत्तम; ३. हटकें-हटाते हैं।

कोलाहल मन में मचा, जब थम होता शान्त।
सुन तब आत्मा का सकें, सम्मति स्वर निर्भ्रान्त॥००५५॥

भीतर है सौन्दर्य की, सत्ता-मूल निहार।
बाहर साधन मात्र, दें, जो है छिपा उघार॥००५६॥

वाणी अन्तर-आत्म की, खोले उरस् कपाट।
किन्तु विवेकी सोच से, जग यश मिले विराट्॥००५७॥

विद्युत आत्मिक-शक्ति है, उसका कर्म, प्रकास।
इसे पूत रख पा सके, नर सर्वोच्च विकास॥००५८॥

उत्तम राष्ट्र समाज की, है सेवा, है साँच।
आत्म-सुश्रुषा किन्तु है, सर्वोत्तम विभु-आँच[१]॥००५९॥

पर तन-सुन्दरता नहीं, अन्तराल पर झाँक।
प्रकट दिपें सौन्दर्य के, उसमें नन्दित आँक[२]॥००६०॥

आत्मा से हो कर्म का, निकला हुआ विचार।
क्योंकि तभी वह कर सके, आत्मा का उपकार॥००६१॥

पग उठने से पूर्व ही, परामर्श दे स्वात्म।
यह विभु आज्ञा, पालना, क्योंकि आत्म ही राम॥००६२॥

आत्मा का सद्भाव ही, शक्य करे उद्धार।
मूल्यवान् है भावना[३], सो रख भाव उदार॥००६३॥

कुपथ गमन से रोक, दे, सुपथ गमन की सीख।
रहे बचाती क्लेश से, मात्र मिन्त 'जी'-दीख[४]॥००६४॥

आत्मा की हों शक्तियाँ, जाग्रत, करें विकास।
जब हो करने की महा, उत्सर्गी अभिलास॥००६५॥

---

१. आँच-तेज; २. आँक-सिद्धान्त; ३. भावना-नीयत; ४. जी-दीख-आत्मा की दृष्टि।

आत्मा की अभिव्यक्ति में, जब स्वतन्त्र हो हाथ।
फलित न हो पाते कभी, तब अन्याय प्रमाथ[१]॥००६६॥

आत्मज्ञान से देह-में, अहम्-भाव हो अस्त।
अकर्तव्य[२] सुस्पष्ट हो, तब चित करे निरस्त॥००६७॥

जो ऋजु है टेढ़ा नहीं, सहज सरल वह पन्थ।
सो स्वीकारे 'ही' जिसे, अपना जीवन, कन्थ[३]!॥००६८॥

सद्गुण का समुदाय है, आत्मा का साकार।
सो गह सत् जो पा सके, आत्मा सत्-सुख सार॥००६९॥

रचता वाह्य स्वरूप को, स्वार्थी चिन्तन भाव।
श्रेष्ठ बन सकें, सो सुनें, आत्मा-जनित स्वभाव॥००७०॥

बहुधा मन मन से करे, हठधर्मी अनुरोध।
आत्मा की परिशुद्धि से, तब कर मन का शोध॥००७१॥

ऊपर उठ तन से, लखें, जो है नर के पास।
तृप्त मात्र करती उसे, हार्द-प्रेम की वास॥००७२॥

प्रत्युत हो व्यवहार के, क्योंकि क्रिया अनुरूप।
आत्म-चेतना सो रखें, प्रखर सुशील सुरूप॥००७३॥

जग समझे तन-बाहरी, धोना मात्र नहान।
पा कर लेना सत्यतः, आत्म-शुद्धि है स्नान॥००७४॥

जो अपने 'पीछे रखें' दीपक ज्योतिर्दाय।
कर्म-पन्थ में डालते, वे अपनी ही छाय॥००७५॥

आत्मा हत जिसकी न हो, कर दासत[४] स्वीकार।
पाप कोउ भी कर सके, वह बिन भय बिन भार॥००७६॥

---

१. प्रमाथ-उत्पीड़न; २. अकर्तव्य-अनुचित; ३. कन्थ-प्रिय; ४. दासत-दासत्व, दासता।

पाप-दृष्टि रख भोगता, जब जग कोप कटाक्ष।
गढ़े नरक तब स्वयम् को, पा नर अवनति-आक्ष[१]॥००७७॥

निज सुख-सुविधा स्वार्थ के, हेतु दिया जो दान।
निष्फल है, जो दे बढ़ा, चित्[२] नाशक अभियान॥००७८॥

अन्यों का मुँह ताकना, बहुत बनाना बात।
आत्म-शक्ति पर स्वयम् की, करे कुठाराघात॥००७९॥

दुर्गुण दोष निवारना, भरना सुगुण उजास।
दोऊ, जीवन साधते, कर मन आत्म विकास॥००८०॥

शिक्षा बल धी हों भले, उत्तम भीम विशाल।
जितन आत्म-श्रद्धा मिले, उतन सिद्धि पर आल[३]॥००८१॥

तड़प रखे जिसके लिये, आत्मा इच्छा-शक्ति।
पाना उस आनन्द को, तदनुरूप कर व्यक्ति[४]॥००८२॥

कर नहिं सहमत हो नहीं, करवा भी नहिं पाप।
भले जाय सर्वस्व ही, पर मिल जाता स्वाप[५]॥००८३॥

कर आत्मा-वच-कर्म का, अनुभव, तब अनुसार।
पा सब, जिस सहयोग से, जग में सके निवार॥००८४॥

उरस् उगे, प्रेमादि हैं, गुण आत्मिक सहजात।
यही व्यक्ति की शक्ति हैं, अतः विकस पा सात[६]॥००८५॥

आत्मा जब देती हटा, उर का तम अज्ञान।
तब उर शान्ति-अखण्ड का, बने पुण्य घर थान॥००८६॥

आत्मा की सेवा करें, छुटा सके जग-बन्ध।
जो वह चाहे सो करें, सो नितान्त हो अन्ध॥००८७॥

---

१. आक्ष-आत्मा सम्बन्धी; २. चित्-आत्मा; ३. आल-विस्तृत, अधिक बड़ी; ४. व्यक्ति-अभिव्यक्ति, कर्म; ५. स्वाप-अपनी आत्मा; ६. सात-प्रसन्नता।

सत् शिव सुन्दर युक्त हैं, आत्मा के सब काम।
सो कर आत्म-निदेश से, बन द्यौ-धाम अ-क्षाम॥००८८॥

स्वात्मा का पकड़े रहे, पग पग सदा सहार।
शान्ति शक्ति सामर्थ्य पा, नर तब बने उकार[१]॥००८९॥

साधन सञ्च विवेक से, ले आत्मा, सिद्धान्त।
तब स्वतन्त्र हो भाग्य से, करती उन्नति कान्त[२]॥००९०॥

कोष अनौखी शक्ति का, आत्मा, अनुभव होय।
निज निश्चय को कार्य में, परिणत करती जोय॥००९१॥

आत्म-साधना से दिपें, ब्रह्म आत्म सर्वत्र।
स्वत: तुष्ट तब हो रहें, सकल समस्या सत्र[३]॥००९२॥

चिन्तन और चरित्र से, रचें शुद्ध व्यक्तित्व।
आत्मदेव की साधना, यही परम दायित्व॥००९३॥

मैं मेरा मेरे लिये, जब मानें निज देह।
चित हथियाने का बने, तब सब, तज सत् नेह॥००९४॥

रहे मानते स्वयम् को, जब तक मात्र शरीर।
मिट सकतीं नहिं कामना, तब तक, मिटें न पीर॥००९५॥

मैं मेरा का जोड़ते, तन से निज सम्बन्ध।
तब विभिन्न आने लगें, दुख अनन्त प्रतिबन्ध॥००९६॥

भ्रमित न हो जो भी बना, जग से, जग में वास।
मिल जाता है अन्त में, जग में बन मृद-रास[४]॥००९७॥

झल्लाता उद्विग्न हो, खीजे करता शोक।
आत्म-ज्ञान से दूर है, निश्चित वह आलोक[५]॥००९८॥

---

१. उकार-शिव; २. कान्त-मनोरम; ३. सत्र-छद्मवेश;
४. मृद-रास-मिट्टी का ढेर; ५. आलोक-दृष्टि सीमा।

फूलों पर अलि गूँजता, जब लौं चखे न स्वाद।
पाने तक सत्-ज्ञान को, तस चित टिके विषाद॥००९९॥

विकसित करें विवेक भी, स्वयम् ज्ञान के साथ।
भल-हित संगति से जनें, तब सुख दोउ अकाथ॥०१००॥

चिन्तन ऊँच, स्वपाठ दे, संयम चरित-उजास।
सेवा कर्मों में भरे, मंगल-सृजक प्रयास॥०१०१॥

अचल आत्म-निष्ठा रहे, रखता हो निज ज्ञान।
मनुज-धर्म कर्तव्य हैं, उसको जैसे प्रान॥०१०२॥

अजर अमर अज रूप है, निज, जिसकी अनुभूति।
दूर न ईश्वर से रहे, पाकर भी सम्भूति[१]॥०१०३॥

जिसने जाना स्वयम् को, लिया भविष निज जान।
उस 'ही' बैठे स्वयम् दें, परिचय भी भगवान्॥०१०४॥

सदा अनिश्चित सो कहें, नहीं भविष की बात।
है यह सन्देशा जिएँ, सत् से रखकर नात॥०१०५॥

पक्षपात तज, साँच को, गहना सभी प्रकार।
असत् त्याग, सत् साथ में, होता न्यायाचार॥०१०६॥

अशुभ विचाराचार को, करने हेतु निरस्त।
किया गया पुरुषार्थ ही, है अध्यात्म प्रशस्त[२]॥०१०७॥

समा मनुज अस्तित्व में, जाए सत् का ज्ञान।
तब नर उसके अर्थ में, पाता निज पहिचान॥०१०८॥

हो जब तृषित मनुष्यता, तड़प रो उठें प्राण।
जगे युगान्तर[३] चेतना, तब करने को त्राण॥०१०९॥

---

१. सम्भूति-जन्म; २. प्रशस्त-श्रेष्ठ, उत्तम; ३. युगान्तर-दूसरा युग।

चेतो मूल-स्वरूप की, रख करता अनुसार।
चित चित में सुख हर्ष की, बह तब सके बयार॥०११०॥

अन्तर-मुख कर वृत्तियाँ, जिसके कर्म निभाव।
इस दुखमय संसार में, सुखी वही रह पाव॥०१११॥

यदि समर्थ, असमर्थ को, जो दे बना समाज।
तब अथ हो युग, न्याय ही, जिसमें हो अधिराज॥०११२॥

पा नद-सी शालीनता, बन रवि सरिस उदार।
सह अचला सम, दें तभी, विभु प्रसन्न हो प्यार॥०११३॥

पा प्रकाश कब लौटता, शलभ अन्ध की ओर।
तस स्व-ज्ञात अज्ञान में, भटके एक न पोर[१]॥०११४॥

जीता स्वात्मा ने जिसे, करे उसी से प्यार।
पर वह जिससे हारती, जाता जीवन हार॥०११५॥

पर-दुख से होने लगे, सहज द्रवित अभिव्यक्ति।
मात्र यही सर्वोच्च है, वन्दन ईश्वर भक्ति॥०११६॥

आत्मा मात्र मनुष्य की, दे प्रच्छन्नादेश[२]।
उसे निभा[३] हो चित्त की, दिवता[४] जैस दिवेश[५]॥०११७॥

बढ़ती आत्म-स्वरूप की, जितनी निज अनुभूति।
ईश तत्त्व से ऐक्य की, उतनी बढ़े विभूति[६]॥०११८॥

जो स्वात्मा की वृत्तियाँ, कर ले कर्मन्-सिद्ध।
स्वतः धर्म सर्वस्व से, हो जाता वह ऋद्ध॥०११९॥

रख चित की परिशुद्धता, षड्रिपु स्वार्थ निकाल।
दिपे उपस्थित, लब्ध हो, तब सर्वत्र अकाल[७]॥०१२०॥

---

१. पोर-उँगली की एक गाँठ बराबर; २. प्रच्छन्नादेश-गुप्त आदेश;
३. निभा-निर्वहन करके; ४. दिवता-प्रभा; ५. दिवेश-सूर्य;
६. विभूति-अलौकिक शक्ति; ७. अकाल-परमात्मा।

जन्म न लें आभास में, दीन, हीन, छल, छन्द।
सो पा, हट जग-सक्ति से, सात्त्विक चित आनन्द॥०१२१॥

कारण केवल कामना, चहुँ जो अशम विषाद।
पर अन्तः में ईश को, बसा मिले आह्लाद॥०१२२॥

मन-मति की वाणी नहीं, सुन, दे सदा डुबोय।
अन्तः प्रभु की मौन में, सुन, कर, तारक सोय॥०१२३॥

सागर रहे प्रपञ्च का, सदा सदा संसार।
गागर पर भर नन्द की, आत्म-ज्ञात हो पार॥०१२४॥

बनें आप संसार से, जितना अधिक विरक्त।
आत्मा से हो नन्द का, अनुभव उतना शक्त॥०१२५॥

अधिक नम्र हो घास के, तृण से, निज उर शीश।
द्रुम सम धैर्य सहिष्णुता, रख प्रसन्न हों ईश॥०१२६॥

ईश्वरत्व की ऊँच दें, उनमें रख अनुराग।
करें बद्ध भूलोक से, पर वह आश्रय त्याग॥०१२७॥

रचे या धरे स्वयम् ही, बहुरूपी आकार।
सृष्टि मूल में, सो वही, सोच! मात्र निरकार॥०१२८॥

इन्द्रिय चित मन बुद्धि से, न जो ज्ञात विस्तार।
कहते सो निरकार है, वह प्रभु जाग[१]-अधार॥०१२९॥

पा दैवी गुण पा सके, जीवन सरस बहाव।
तब जग इक परिवार है, स्वीकारें चित-भाव॥०१३०॥

खिलता मुरझाये गिरे, मृद में मिले प्रसून।
नन्द-स्रोत चिर-सत्य है, पर अदृश्य थित-शून[२]॥०१३१॥

---

१. जाग-जागृति; २. शून-शून्य।

नाम रूप छलते रहें, धर नव नाम स्वरूप।
पर विभु को ज्ञानी लखे, व्याप्त विशून्य[1] अनूप॥०१३२॥

आस्था श्रद्धा इष्ट में, आस्तिकता विश्वास।
नास्तिकता है ध्यान में, लाना किन्तु निरास॥०१३३॥

कारण उसका है नहीं, है भी नहिं वह कार्य।
पर वह तात्त्विक सार है, जड़ चेतन का, आर्य[2]॥०१३४॥

पूर्ण सिन्धु आलोक का, आत्मज्ञान आलोक।
देखे अन्तर-दृष्टि ही, अखि नहिं सकें विलोक॥०१३५॥

लब्ध जन्म अवसर हुआ, मानें, इक ही बार।
आत्मज्ञान तप से करें, सो अवश्य भव पार॥०१३६॥

चित खेती आनन्द की, आत्म-ज्ञान से सींच।
बैठी दिपे अनन्तता, तब चेतन, चित बीच॥०१३७॥

तुरत जागता दे हटा, अपनी लघुता छिद्र।
स्वतः सत्त्व अनुभूति में, टिक वह सके अनिद्र॥०१३८॥

रस-मधु चखें समत्व का, ध्रुव-सत् जग-पितु एक।
स्वतः तोष तब उग, घटे, जग-शुभ, हट अविवेक॥०१३९॥

विभु अर्पित कर कर्म से, चित जब बने अखेद।
मानव मानव हेतु में, बहा सके तब स्वेद॥०१४०॥

नहिं मैं नहिं मेरा कहीं, सब कुछ है भगवान्।
इस सत् में आनन्द की, मात्र भूति[3] विदमान॥०१४१॥

मन हो रहित विकल्प से, ध्याये अविरत नाम।
ईश स्वयम् ही ढूँढते, आते, वह ही धाम॥०१४२॥

---

१. विशून्य-पूर्ण वायु रहित रिक्त; २. आर्य-श्रेष्ठ, आदरणीय;
३. भूति-उत्पत्ति।

जस शैवलिनी[1] सिन्धु हैं, जल से, दृष्ट समर्थ।
तस सत[2], जीवन सृष्टि का, विभु बिन शून्य निरर्थ॥०१४३॥

भोग मोक्ष की वासना, रखती चित में वास।
तब लौं ईश्वर प्रीत का, उसमें न हो प्रकास॥०१४४॥

कर्म, रहे जिसमें नहीं, मन-पवित्र समवेत।
शान्ति प्रदान, न कर सके, विभु प्रति भाव सचेत॥०१४५॥

कोउ पराया ना रहे, उसे जिसे विभु ज्ञात।
भय न किसी से हो, मिलें, तब पथ खड़े न घात॥०१४६॥

देव[3], जीव संसार में, जीव देव सर्वत्र।
ब्रह्म सत्त्व, निज सत्त्व का, ढूँढ न सो अन्यत्र॥०१४७॥

सत्यम् शान्ति प्रफुल्लता, ईश मूलतः प्रेम।
चेतनता आनन्द हैं, लख उसकी ही टेम॥०१४८॥

ईश्वर सत्यम् स्वयम् है, ईश्वर शिवम् स्वरूप।
व्याप्त सर्व सौन्दर्य है, विभु सौन्दर्य अनूप॥०१४९॥

सर्व-शक्ति सर्वत्र जो, शून्य सर्वगुण प्राप्त।
स्वज जड़ चेतन सत्यता, शाश्वत विभु वह आप्त[4]॥०१५०॥

व्याप्त सर्व गुण रूप में, उद्यत दया-निधान।
शून्य रोर से राग के, विज्ञ, वही भगवान्॥०१५१॥

होता है श्रम, त्याग से, जीवन का सत् शोध।
सदाचार कर्तव्य ही, सो विभु रूप पयोध॥०१५२॥

ईश्वर की अनुकूलता, जग के सब-प्रतिकूल।
बना सुष्ठु सर्वांग को, इष्ट दे सकें कूल[5]॥०१५३॥

१. शैवलिनी-नदि; २. सत-सत्त्व, अस्तित्व; ३. देव-भगवान्; ४. आप्त-प्रामाणिक, विश्वस्त; ५. कूल-इष्ट लक्ष्य।

जगासक्ति रख, दे नहीं, भक्ति-दिखावा लाभ।
दिपे न तब बढ़ वासना, क्योंकि निजात्मिक आभ॥०१५४॥

स्वको जानने में लगी, सब जग-सत् ले सीख।
पर पर-छिद्र निहार की, सब-निज खोती, दीख॥०१५५॥

आत्मा-से प्रभु को किया, आत्म-निवेदन[1] जोय।
उस अंगीकृत[2] के रहे, चित भय चिन्त न कोय॥०१५६॥

आत्मा पूजित है जिसे, कर्म-क्षीण नहिं होय।
निश्चित तब, की कामना, पूर्ण कर सके सोय॥०१५७॥

आत्मा के पाथोधि[3] में, हैं नर उठी हिलोर।
पर इस सत् से अज्ञ ही, जिएँ स्वार्थ-अघ घोर॥०१५८॥

हो अन के उपदेश से, रञ्च लाभ नहिं प्राप।
न हों स्वगत उपदेश को, जब तक तत्पर आप॥०१५९॥

निज-निन्दा पर सोचना, रख नहिं, शन्सा चाह।
आत्मा कह दे हाँ जिसे, मात्र उसे निर्वाह॥०१६०॥

अन्तः, जीवन लक्ष्य को, पग पग कहे पुकार।
मम आदर कर पा सके, तब ही सुभगाधार[4]॥०१६१॥

तन नहिं, ब्रह्म असीम से, बना ऐक्य तादात्म्य[5]।
अमर चिर-विलय हो तभी, आत्म ब्रह्म का काम्य[6]॥०१६२॥

वे प्रसून सेवा दया, प्रेम धर्म-आचार।
पूजा जिनसे मात्र है, ईश्वर को स्वीकार॥०१६३॥

जननी जनक न जन्मते, रचें न कोऊ हाथ।
उस ही अमन[7] अकाथ से, यह सम्पूर्ण सनाथ॥०१६४॥

---

१. आत्म-निवेदन-तन, मन, धन अपने आराध्य को अर्पित कर देना; २. अंगीकृत-अपने अंक से लगाया हुआ; ३. पाथोधि-समुद्र; ४. सुभगाधार- सुभग आधार; ५. तादात्म्य-अभिन्नता; ६. काम्य-जिसकी चाह हो; ७. अमन-बिना मन वाला।

करें सर्व-प्रिय मात्र

हो जग दुख संघर्ष का, कारण एक प्रतीत।
निज-हित जो चाहें, करें, अन्यों से विपरीत॥०१६५॥

आरोपण है सोच का, चित पर, यह व्यक्तित्व।
सो रख शुचिता दृष्टि में, तब सुधरे वृत्तित्व॥०१६६॥

अभिरुचि जिसकी हो गयी, सद्-विचार की ओर।
उसके कर्मों में रहे, फिर श्री नव्य किशोर॥०१६७॥

मिलते सुफल विलम्ब से, कृत करके रख धीर।
तुरत लाभ के यास का, न तु इति-फल है पीर॥०१६८॥

साँची जीवन साधना, कर न सका नर जोय।
उसके सोच चरित्र में, भरा मात्र अघ होय॥०१६९॥

देता है संसार को, कर्म, सजगता सीख।
सोचें! इक क्यों वैभवी, क्यों माँगे इक भीख॥०१७०॥

नर का सत् सौन्दर्य है, मंगलदाय विभूति[१]।
अरि भी शन्सा दे जिसे, सद्गुण है वह पूति[२]॥०१७१॥

सर्वोपरि धन, है सभी, शास्त्रों का श्रृंगार।
सब धर्मों का धर्म है, कृत में सद् आचार॥०१७२॥

जहँ मर्याद सुलक्षणा, हों सद्गुण सम्पन्न।
वहाँ प्रेम बरसे, रहें, गद्गद् सभी प्रसन्न॥०१७३॥

श्रमी सद्गुणी हो रचें, मन-संसृति[३] अस्तित्व।
तब प्रभावशाली बने, जीवन, दृढ़-व्यक्तित्व॥०१७४॥

---

१. विभूति-शक्ति; २. पूति-पवित्रता; ३. संसृति-संसार।

जग-थितियाँ पावे भले, विकट-वाम दिग्भ्रान्त।
रहता सद्-आचार का, पर मन निश्छल शान्त॥०१७५॥

ममता रखे अबोध से, जीव हेतु कारुण्य।
जग-हित कर्म-सुशीलता, बने चरित वह पुण्य[१]॥०१७६॥

तन मुख नहीं, नितान्त है, सुन्दर सद्-व्यवहार।
यही कला दी ईश ने, सर्वश्रेष्ठ उपहार॥०१७७॥

छीजें जिस द्रुत वेग से, अन्तः से सद्मन्त्र।
उस त्वरि[२] से आ बैठता, आडम्बर का तन्त्र॥०१७८॥

किया शुभाशुभ, भोगना, अरु उसका परिणाम।
जीवन है यह, साधना, सो चिन्तन, निज काम॥०१७९॥

लेना सद्-आचार से, निर्भयता की सीख।
तब ही अन्तः-शक्तियाँ, दें विस्मयकर दीख॥०१८०॥

करे न चिन्ता हानि की, न हो मृत्यु से भीत।
जीवन-पग प्रत्येक हो, जिसका सत्-पथ नीत[३]॥०१८१॥

सभी स्वीय रख हीय में, सदाचार को पोष।
किन्तु सजग! दुख-मूल है, ममता नामक दोष॥०१८२॥

मितव्यय जीवन जी, बनें, नहिं धन या पर दास।
भटकें न तु पड़ पाप में, पावें गास[४] विनास॥०१८३॥

मूल्य महत्त्व न ज्ञात हों, उसे मृदा हैं रत्न।
जीवन अघ में डाल दें, तस अस-नर के यत्न॥०१८४॥

हो नहिं पुस्तक ज्ञान से, आत्मसात् सद्-दीठ।
आचारी-दृष्टान्त ही, सो शुभ विद्यापीठ॥०१८५॥

---

१. पुण्य-पवित्र, सुन्दर, सुष्ठ; २. त्वरि-शीघ्रता; ३. नीत-ग्रहण किया हुआ; ४. गास-संकट।

सेवन औषधि-पथ्य का, जस देता लाभास[१]।
आत्म-त्राण को, तस पड़ें, करने स्वयम् प्रयास॥०१८६॥

अधिक नहीं, पर दे सके, यदि नर प्रत्युपकार।
तब प्रसन्नता, पा सके, अगिनत जग-परिहार॥०१८७॥

बना सकें तब और को, निज विचार का आप।
तव विचार जो बन सकें, उस विचार की माप॥०१८८॥

मात्र एक कर्तव्य है, एक सुरक्षित बाट।
आपा निरत सुधारना, कृत में सद् मन-पाट[२]॥०१८९॥

सत्प्रवृत्ति दुष्वृत्तियाँ, जग में दोउ विदमान।
अपनाना व्यवहार में, कर सो सद् पहिचान॥०१९०॥

निज मन के स्वामी बनो, रखो भले आचार।
सुफल सफल की स्वयम् ही, तब आ मिले निहार॥०१९१॥

दे कर्तव्यों धर्म का, पालन, जो अधिकार।
रचे अहिन्स समाज को, वह, दे सत्य विचार॥०१९२॥

इन्द्रिय निग्रह सत्यता, सहनशीलता लाज।
अन को अस गुण हर्ष दें, अपना बने समाज॥०१९३॥

रखते सद्‌गुण-सम्पदा, सहज भाव से पास।
उन पर टिक, सुखदा रहे, धन-सम्पद् बन दास॥०१९४॥

करे सुवासित एक ही, वन को जस द्रुम वास।
तस सद्‌गुण सम्पन्न से, पाव समाज सुहास[३]॥०१९५॥

कर्मों को जब ढालते, सद्‌गुण सद्-आचार।
पार कठिनता हो खुलें, तभी प्रगति के द्वार॥०१९६॥

---

१. लाभास-लाभ+आस; २. पाट-भरकर; ३. सुहास-मुद, प्रसन्नता।

साँची मनुज-सशक्तता, श्रेष्ठ कर्म गुण भाव।
कर्तव्योंरत सो करें, विश्वासी बरताव॥०१९७॥

जीती सद्गुण शील का, जीवन जिसकी ठान।
बरसाता माँगे बिना, उस पर जग वरदान॥०१९८॥

अन्तः वाह्य निसर्ग के, दे जब लाँघ विधान।
क्लेश कष्ट सब भाँति के, पाता तभी पुमान्॥०१९९॥

देख-रेख रक्षा करे, जब तक नर की लाज।
तब तक ही उर का रहे, सद्गुण शोभित राज॥०२००॥

लोक-लाज की रास से, मात्र मनस् को बाँध।
ले सँभाल गिरने न दे, इंगित कर, दे साँध[१]॥०२०१॥

रहें सदा मर्याद में, करें क्षमा का दान।
चित स्वभाव तब स्वयम् का, सुधर बने गुणवान्॥०२०२॥

ठौर बदल कुछ हो नहीं, बदलें मात्र स्वभाव।
सुखी शान्त तब ही बने, जीवन लोक-लुभाव[२]॥०२०३॥

उन्नति शुद्ध स्वभाव से, मिल सकती कर काम।
पर नहिं उन्नत हो सके, जिसको प्रिय विश्राम॥०२०४॥

कोऊ में विश्वास हो, श्रद्धा भले अगाध।
सत् से हटे चरित्र का, पर कर अडिग-विराध[३]॥०२०५॥

जैसे भाव स्वभाव में, सञ्चित करें विचार।
ठीक उसी प्रारूप में, दें वे कर्माचार॥०२०६॥

नीति धर्म भगवान् में, रखने पर विश्वास।
वीरोचित करता भले, हो अशक्त अनुदास॥०२०७॥

---

१. साँध-लक्ष्य; २. लुभाव-लुभावन; ३. विराध-विरोध।

निज चरित्र-बल की रखें, क्रियामयी अभिव्यक्ति।
विकसित होती बुद्धि की, तभी प्रखरतम शक्ति॥०२०८॥

माननीय जग में रहे, शुभकर सदा चरित्र।
रख अपना जिससे सकें, आत्मा-रूप पवित्र॥०२०९॥

सबसे उत्तम हेतु[१] है, करना कर्म पवित्र।
भूषण अनुपम सर्वथा, है सो श्रेष्ठ चरित्र॥०२१०॥

निज चारित्रिक श्रेष्ठता, रखे जिसे अभिभूत[२]।
वह अपनी भी दृष्टि में, पाता मान अकूत[३]॥०२११॥

जन-जीवन की पीर से, वैसा ही दुख होय।
रख वह सके चरित्र को, पूत, भले सब खोय॥०२१२॥

गर्हित दिवचर्या रखें, आदत ऊटपटाँग।
बह न सके नर-धर्म की, उनमें पावन गाँग॥०२१३॥

करे अपेक्षा शन्स की, धन-पद लाल प्रपञ्च।
कुत्सित कपटी क्रूर में, मनुता रहे न रञ्च॥०२१४॥

मूल्याचारों को तजे, पतन-पराभव पाव।
उलझन विपद्-विभीषिका, पर जग पर बरसाव[४]॥०२१५॥

पाना जितनी श्रेष्ठता, चाहे अपनी लाल।
उतने श्रेष्ठ महत्त्व की, चलनी पड़ती चाल[५]॥०२१६॥

आदर्शों से सींचते, मनुज गुरुत्व महत्त्व।
जग को वे ही दे सकें, शान्ति प्रगति का सत्त्व[६]॥०२१७॥

धर्म छुटाये पाप से, श्रेष्ठ सुझाये कर्म।
चित को शम सुख नन्द दे, सो अपनाना धर्म॥०२१८॥

---

१. हेतु-उद्देश्य; २. अभिभूत-प्रभावित, वशीभूत; ३. अकूत-अपरिमित; ४. बरसाव-बरसाता है; ५. चाल-आचरण; ६. सत्त्व-गुण, धर्म।

धर्म-धारणा-प्रेरणा, करे चित्त उत्थान।
सुनियोजन तब कर्म का, बने सर्व-कल्यान॥०२१९॥

उर नहिं जले अभाव की, दव[1], दुख दे नहिं वाम[2]।
परिपालन दे धर्म का, निश्चित सुख परिणाम॥०२२०॥

विद्या शौर्य कुलीनता, स्वर्ग राज्य धन मोक्ष।
मात्र धर्म निर्वाह से, दें अन्तः-सुख चोक्ष[3]॥०२२१॥

आहत हो सम्वेदना, करुणा अपजय पाय।
कृत जो क्षति मनुजत्व को, दे, नहिं धर्म कहाय॥०२२२॥

घृणा अदय झूठादि हैं, तापक, अतः अधर्म।
सबको शिव, सो धर्म हैं, करुणा आदि सुकर्म॥०२२३॥

सदाचार कर्तव्य का, पालन, धर्म-प्रतीक।
धर्म हेतु, अघ से बचा, सो, देना पथ नीक॥०२२४॥

धन बढ़ने से पा सके, कभी न नर सम्मान।
वरन् पा सके, धर्म का, बनने से प्रतिमान॥०२२५॥

युक्त जिसे समझे नहीं, स्वयम् हेतु निज-मर्म।
नहीं किसी के साथ भी, करना, केवल धर्म॥०२२६॥

अपना सबका जो करें, मंगल क्रिया-कलाप।
सदाचार हैं धर्म हैं, गुण हैं, वे ही आप[4]॥०२२७॥

शुचिता समता एकता, नैतिकता सहकार।
हैं सहिष्णुता, धर्म के, मूलभूत उपहार॥०२२८॥

हृदय-उदार मनुष्यता, गगन सदृश्य अनन्त।
करे भस्म अविवेक को, धर्म, प्रकट वह कन्त[5]॥०२२९॥

---

१. दव-दावानल; २. वाम-विपरीत; ३. चोक्ष-सच्चा, शुद्ध;
४. आप-ईश्वर; ५. कन्त-ईश्वर।

जिसमें प्राणीमात्र का, निहित रहे कल्याण।
पुञ्ज उनी सिद्धान्त का, धर्म, विश्व का प्राण॥०२३०॥

जस सब ओर तड़ाग के, होते घाट अनेक।
पन्थ, घाट तस धर्म के, धर्म मात्र पर एक॥०२३१॥

अनायास होते नहीं, सम्भव सभी सुकर्म।
सो बो रे! मन-भूमि में, सदा मनुजता धर्म॥०२३२॥

उर की मात्र विशालता, प्रश्रय करे प्रदान।
जिससे प्रियता आपसी, बढ़े, घटा नर मान[१]॥०२३३॥

सन्तत रहे प्रसन्नता, चित यदि पवित अदोष।
पर उदार उर सत्यतः, है उन्नति का कोष॥०२३४॥

सुन जिसकी बहरे सकें, समझ सकें सब मूक।
है वह यन्त्र दयालुता, जिसमें ऐसी कूक॥०२३५॥

शान्ति सुकर्मों को जने, ज्ञान, धर्म के साथ।
पर उदारता ज्ञान को, दे उपकारी हाथ॥०२३६॥

सहचरता सम्वेदना, ज़िस मन भी थित होय।
भग्नाशा कुण्ठा करे, उस मन पैठ न कोय॥०२३७॥

चित-विनम्र-उत्कृष्टता, साँची मनुज समृद्धि।
क्योंकि स्रोत देता यही, थिति-अविरोधी सिद्धि॥०२३८॥

प्रेम चित्त का सोम है, स्नेह-सिक्त रख भाव।
स्वतः और भी पा रहें, जो कि नन्द चित-लाव[२]॥०२३९॥

जब हो ज्ञान विवेक का, मृदु या परुष[३] प्रयोग।
सौम्य प्रेम का ही रखें, तब सदैव विनियोग[४]॥०२४०॥

---

१. मान-अभिमान; २. लाव-प्रीति; ३. परुष-कठोर; ४. विनियोग-प्रयोग।

प्रेम नहीं, छल मोह है, सब संसारी राग।
किन्तु राग जगदीश से, सचमुच प्रेम अराग[१]॥०२४१॥

उरस् स्नेह सौजन्य की, भाषा है मुसकान।
दोष अशक्ति अतोष की, किन्तु व्यक्ति[२], झुँझलान॥०२४२॥

श्रद्धा करती सर्वदा, शुभ मर्याद पवित्र।
ओत-प्रोत इससे रखें, सो निज चित्त चरित्र॥०२४३॥

सदा हृदय को प्रेम दे, करुणा का विस्तार।
सो लें दें बिन स्वार्थ के, प्रेम-रूप उपहार॥०२४४॥

रहें संगठित, बन सकें, इक दूजे के त्राण।
न तु बँट रह, हम ही हरें, आपस का कल्याण॥०२४५॥

संस्कारों को चित्त में, विकसें, जो हों शुद्ध[३]।
इन पर क्योंकि प्रसन्नता, निर्भर, रखें अक्षुब्ध॥०२४६॥

होती हार्द पवित्रता, मानव का सौन्दर्य।
एका[४] कर्म विचार का, सो सदैव आचर्य॥०२४७॥

जीवन सत्य पवित्र का, रहता त्रास-विहीन।
पर विचार-पापी रहें, दुखी सशंकित दीन॥०२४८॥

कर सुपाठ नित साधना, माँज करें, मन शुद्ध।
पान्शुल[५] मेचक[६] ही रहे, न तु वह बना अबुद्ध[७]॥०२४९॥

जीवन हो निर्दोष, जो, करते हैं प्रारम्भ।
उनके श्रम को सर्वदा, तोष-जनक हों लम्भ[८]॥०२५०॥

धन हो पर यदि हों नहीं, नर के भाव उदार।
तब धन, मद बनता, करे, अनगिन हिन्स्त्र कुकार॥०२५१॥

---

१. अराग-वासना रहित, शान्त; २. व्यक्ति-अभिव्यक्ति; ३. शुद्ध-पवित्र; ४. एका-ऐक्य; ५. पान्शुल-सदोष; ६. मेचक-काला; ७. अबुद्ध-मूर्ख; ८. लम्भ-प्राप्ति।

होकर भी धन का धनी, सुगुणों से कंगाल।
विलग रहें उससे, नहीं, वह उर रखे विशाल॥०२५२॥

नहीं धर्म निर्वाह में, धन का कोई काम।
वरन् मात्र मन चाहिये, उर जो रखे ललाम॥०२५३॥

त्याग बिना कोई भले, हो भी धर्मागार।
कभी न प्राणी मात्र को, हो वह सके उदार॥०२५४॥

भला, हृदय श्रम से करे, लेश न हो पर-हान।
अन्तः थित तब हो रहें, सदा दोउ बन मान॥०२५५॥

नित पावनता पक्वता, विकस रचे व्यक्तित्व।
पा शन्सा उसके सकें, उपक्रम[1] पथ कर्तृत्व॥०२५६॥

झलके दया स्वभाव में, करुणा निरहंकार।
है वह सुगुणी सो करें, उस संगत सत्कार॥०२५७॥

जब दारिदता दीन की, तेरा उर दे चीर।
कर सेवा, आ कह रहे, विभु, हर उसकी पीर॥०२५८॥

बन पवित्र आचार से, अन भी गहें सुधार।
तब सद्गुण-हित हो सके, आशा का सञ्चार॥०२५९॥

दे करुणा की दीठ ही, करुणाकर का बोध।
करुणा तप्त निरीह को, सो दे, रख चित शोध[2]॥०२६०॥

द्रव-'ही' की उद्भावना[3], है सर्वोच्च विकास।
सदाचार जिससे करें, चित में ठहर, निवास॥०२६१॥

गुण-कृत, विकस स्वभाव में, उर की चेत विशाल।
चहुँ दिश जीवन पा सके, तब उन्नति उत्ताल[4]॥०२६२॥

---

१. उपक्रम-प्रयास; २. शोध-शुद्धि; ३. उद्भावना-उत्पत्ति, जन्म;
४. उत्ताल-श्रेष्ठ।

हैं जिसके व्यवहार में, सेवा सत्य विशेष।
नृप वह उर उर का बने, हों उस तुष्ट सुएष[१]॥०२६३॥

पल पल परमानन्द है, परहित कृत निष्काम।
सर्वकाल उर सो रखें, निर्विकार सम शाम[२]॥०२६४॥

अपनी एषा पूर्ति में, बड़ा धर्म, कर्तव्य।
दे रक्षा सहयोग सो, है जो उसे अलभ्य॥०२६५॥

पा लेना पाण्डित्य का, है आधा व्यक्तित्व।
पूर्ण करें व्यक्तित्व को, पर निश्चल दायित्व॥०२६६॥

शन्सा निन्दा हो भले, उस पर टिका न ध्यान।
पर दायित्वों को निभा, सत्मन से पहिचान॥०२६७॥

घटा[३] न रुचिकर, सोच लें, प्रभु इच्छा रह शान्त।
पर कर्तव्यों को करें, तब भी बिन विश्रान्त॥०२६८॥

कभी किसी कर्तव्य को, झञ्झट लें नहिं मान।
न तु सम्पादन हारता, ढोकर भार समान॥०२६९॥

कितना पालन कर रहे, अन्य कनिष्ठ वरिष्ठ।
देखे जो, नहिं हो सके, कर्तव्यों प्रति निष्ठ॥०२७०॥

वर्तमान कर्तव्य है, है भी हित अनिवार्य।
कभी नहीं सो टालना, कल पर सम्मुख कार्य॥०२७१॥

साहस कर, कर्तव्य का, पालन हो तज मोह।
कीर्ति मिले, समभाव हो, तब सब-प्रति उर छोह[४]॥०२७२॥

समझ लक्ष्य कर्तव्य है[५], करते अध्यवसाय।
उनें कर्म-फल कामना, सपने भी न सताय॥०२७३॥

---

१. सुएष-अच्छी अभिलाषायें; २. शाम-शान्त; ३. घटा-घटित हुआ; ४. छोह-ममता, स्नेह, दया; ५. समझ लक्ष्य कर्त्तव्य है-लक्ष्य ही कर्त्तव्य है समझ कर।

है अपुष्ट, की या नहीं, सृष्ट ईश ने सृष्टि।
नियत किन्तु, नर पा सके, कर्मों से द्यौ दृष्टि॥०२७४॥

मनुज न कोई जन्म से, होता कभी महान्।
चढ़ता वरन् स्वकर्म से, उन्नति के सोपान॥०२७५॥

उगा आत्मबल को सके, लब्ध कर सके धर्म।
रचें ऐस व्यक्तित्व को, मात्र परिष्कृत कर्म॥०२७६॥

लाभ नहीं करके मिले, ग्रन्थों को कण्ठस्थ।
वरन् धर्म गुण ग्रन्थ के, दें शुभ, कर कर्मस्थ॥०२७७॥

शब्दों का उपदेश दे, बहुधा नहीं सुधार।
पर अन को नर कर्म दें, सीख, पुकार पुकार॥०२७८॥

अपने कर्मों से रचे, नर निज लघु संसार।
सो सदैव कर, दे सके, जो सुख शान्ति सँवार[१]॥०२७९॥

नहिं दें साहस, सीख भी, दें नहिं, जिसके कर्म।
ओजी[२] भाषण में रहें, उसके ढोंगी धर्म॥०२८०॥

कर्म असद् सद् शक्ति का, रखता अपर प्रभाव।
सो वैसे स्वामी बनें, जैसा कर्म स्वभाव॥०२८१॥

मृत्यु पूर्व पश्चात् भी, जीव नहीं स्वाधीन।
युग युग इसे विकर्म ही, बाँध रखें, प्राचीन[३]॥०२८२॥

हानि लाभ जय हार में, यद्यपि भले अनाथ[४]।
राग-द्वेष मुद-शोक से, मुक्ति किन्तु नर हाथ॥०२८३॥

निर्-उत्पादक, और का, आश्रित, बने विमान[५]।
शान्ति नहीं, जड़ता रहे, निष्क्रिय में विदमान॥०२८४॥

---

१. सँवार-साहस, रक्षा; २. ओजी-ओजपूर्ण; ३. प्राचीन-पहिले किये हुए; ४. अनाथ-असहाय; ५. विमान-असम्मानित।

चढ़ती वय सद्कर्म में, निरत रहे सुख पाव।
न तु पल लगते काटने, निज भी करें दुराव[१]॥०२८५॥

तन का नहिं, सौन्दर्य है, मन गुण का आकर्ष।
खिले निखर आचार में, सो बन सर्व-विहर्ष[२]॥०२८६॥

प्रेम सजगता से करें, भले लघुक हो काम।
तब इक दिन में वर्ष का, मिल फल सके अवाम[३]॥०२८७॥

सफल जयी की वन्दना, शन्सा करते लोग।
सो अस जीवन साधना!, जो दे नित जय-योग॥०२८८॥

पथ-दर्शक, नर हेतु हैं, महापुरुष के पाँव।
बना सुकर्मों को रखें, सो नित निज पग-ठाँव॥०२८९॥

होता प्राप सुकर्म से, संयम रखे[४] सँभाल।
जीवन को तब पुण्य दे, साधन सुविधा ढाल[५]॥०२९०॥

समझें गहन विचार से, एक सुनिश्चित बात।
रहे बदलता, क्योंकि है, भाग्य कर्म-गुण जात॥०२९१॥

धनु से निकला वाण ज्यों, करता अवसि प्रहार।
मिटे भाग्य नहिं, हो भले, उदित सु-ज्ञान अपार॥०२९२॥

लाभ न दुख सुख हान दें, कभी किसी को देव।
मनुज कर्म-फल में मिलें, वरन् भोग स्वयमेव॥०२९३॥

अवसि ध्येय अनुकूल ही, उगा सकें फल फूल।
पड़ती किन्तु सँवारनी, धुन[६] से तद्गुण मूल॥०२९४॥

छद्म लूट उत्कोच में, पड़े प्राण, वह हेय।
युगों कर्म-गति में रहे, फँस वह पतित अमेय[७]॥०२९५॥

---

१. दुराव-दूर करना, भेदभाव; २. विहर्ष-प्रसन्नता;३. अवाम-अच्छा; ४. रखे-रखकर; ५. ढाल-रक्षा; ६. धुन-लगन; ७. अमेय-परिमाण, सीमा रहित।

सुखद दुखद थितियाँ करे, भाग्य मात्र उत्पन्न।
पर विवेक पर है रखे, वह मन व्यथित प्रसन्न॥०२९६॥

पाप-कर्म से है बचा, ज्ञात कि हैं परलोक।
भले अनक्षर, है वही, सुज्ञ[1] अचिन्त अशोक॥०२९७॥

कर्म-योजना कर्म में, रहता सदा सतर्क।
उसी बाँकुरे से रखे, स्वर्ग स्वयम् सम्पर्क॥०२९८॥

मिटा सके अज्ञान को, आत्मा को झकझोर।
सज्जन से इक भेंट ही, होती ऐसी भोर॥०२९९॥

भलता धारण की, किया, मानो सुख साफल्य।
स्वतः मिले जग-योग[2] से, कटें क्योंकि तब शल्य[3]॥०३००॥

कील गढ़े जस भूमि में, सिल[4] में नहीं समाव।
सजग! न खल पर डालते, तस सद्-वचन प्रभाव॥०३०१॥

सह ले निज-प्रति की गई, दुष्टाचारी चाल।
प्रत्युत बरते साधुता, उसे न भय दे काल॥०३०२॥

जिसके कर्मों से हुआ, नष्ट शील शालीन।
अगिन बन्धु धन हों भले, उसे मिले थिति दीन॥०३०३॥

सहनशील चित को, करे, ऊर्जा शक्ति प्रदान।
सो न नम्रता क्लीवता, वरन् शान्ति वरदान॥०३०४॥

विमुख भलाई से न हो, रह नित आशावान्।
दुख में भी तब पा सकें, मंगल पथ अभियान॥०३०५॥

सम्मति सज्जन धीर की, सुने करे निर्वाह।
चिर यश का भागी बने, जग को जिए अदाह॥०३०६॥

---

१. सुज्ञ-विद्वान; २. योग-सहयोग; ३. शल्य-संकट; ४. सिल-पत्थर।

रखे युक्त-सौजन्य का, नित्य सपष्ट[१] निभाव।
उस प्रति प्राणी भी रखें, मितइ अपनपन लाव[२]॥०३०७॥

बिन कुछ किए सुसंग से, पाता चित उत्थान।
पा पर सके कुसंग से, अघ अवनति अवसान॥०३०८॥

चित्त चिन्तना चेतना, होते शून्य विषाक्त।
सतत् कुसंगति छीनती, सभी चरित गुण शाक्त[३]॥०३०९॥

संगति ही से हो सके, चरित-रूप निर्माण।
चिन्तन मनन इकन्त में, पर कर, बनें प्रमाण॥०३१०॥

यदि एकल बैठा रहे, हो जाये मतिहीन।
पर सत्पुरुषों का करे, सँग नित-चेत गुणीन॥०३११॥

कोउ न अपने जन्म से, भलइ अमलता पाव।
संगत ही अच्छा बुरा, उपजाती मन-भाव॥०३१२॥

एक सड़ा फल जैस दे, संगी फल को रोग।
तस संगति अनुसार[४] से, बुरे भले हों लोग॥०३१३॥

काग संग से श्याम हो, पण्डुक का उर-धर्म।
तुच्छ-साथ, क्या दे सके, समझ गहन, यह मर्म॥०३१४॥

दुख चिन्ता का है नहीं, कारण द्रव्य-अभाव।
वरन् अज्ञता है, मिटे, जिसे सुसंग निभाव॥०३१५॥

अवसर पर हटता नहीं, दिखा सके पुरुषार्थ।
सम्यक् संगत दे सके, उसे शूरता सार्थ॥०३१६॥

आत्मा अघमय, दृष्टि हो, दूषित, मनस् मलीन।
सत्-संगत पा, देव भी, बन सकता, वह-हीन॥०३१७॥

---

१. सपष्ट-स्पष्ट; २. लाव-प्रीति; ३. शाक्त-शक्ति वाले;
४. अनुसार-अनुसरण।

पल भर में सत्संगता, दे जाये अस ध्यान।
तत्क्षण कनु प्रत्येक ही, दिपता है भगवान्॥०३१८॥

नहिं सद्-अन्तः[१] से करें, कर्म बुद्धि उपयोग।
दीन हीन सब भाँति हों, नष्ट भ्रष्ट तब लोग॥०३१९॥

कोई सद्मन या नहीं, इक कष दे पहिचान।
की या नहिं पर-काम में, कुछ गड़-बड़, दें ध्यान॥०३२०॥

समझें! है जैसा, रहे, वैसा शाश्वत्, सत्य।
घटे-बढ़े, छल-छद्म की, पर ले टेक वितथ्य[२]॥०३२१॥

जो सतर्क हो लक्ष्य को, चुनते मात्र पवित्र।
जागृत पावन चेतना, हो, उन गढ़े चरित्र॥०३२२॥

भले विफल होना पड़े, सत्-मनता नहिं त्याग।
मानजनक-संसार का, रचती यह सौभाग॥०३२३॥

निष्क्रिय बनती तन्त्रिका, तन मन पाव तनाव।
सब क्षमता ऊर्जा नसें, सो नहिं रखें कुभाव[३]॥०३२४॥

सब तजकर अटवी[४] गुफा, नद-तट, करें अवास[५]।
भाव शोध बिन व्यर्थ हैं, पर जप तप उपवास॥०३२५॥

बड़ा वस्तुतः है, बड़े, जिसके अन्तः भाव।
धन-सम्पद् का, मात्र है, बड़पन, अहम्-दिखाव[६]॥०३२६॥

जो छुट पद वय से, रखे, नम्र शिष्ट व्यवहार।
बने अवसि उस व्यक्ति का, अन्तः विशद[७] उदार॥०३२७॥

हारे नहिं वैषम्य से, बुद्धिमान हो नीक।
निर्णय में निष्पक्ष से, सदा मित्रता ठीक॥०३२८॥

---

१. सद्-अन्तः-ईमानदारी; २. वितथ्य-असत्य; ३. कुभाव-कुस्वभाव; ४. अटवी-वन; ५. अवास-निवास; ६. दिखाव-प्रदर्शन; ७. विशद-स्वच्छ।

इक दाता में, धर्म के, बीज डालता, दान।
शनैः शनैः जो चित्त में, उगे त्याग बलिदान॥०३२९॥

भूषण विक्रम[१] शौर्य[२] का, है अहिन्स, जय-मन्त्र।
कायर पौरुषहीन का, पर हिन्सा षड्यन्त्र॥०३३०॥

विकसित कर सद्-वृत्तियाँ, तब कर रे व्यवहार।
क्योंकि यही उत्थान का, एक मात्र आधार॥०३३१॥

जिनने रख सद्भावना, पाया है वर्चस्व।
दशा दिशा उन साथ की, दे सुपन्थ, तज ह्रस्व[३]॥०३३२॥

चिन्तन भाव पवित्र हों, मन हो निश्चल शान्त।
स्वतः प्रकट हों ज्ञान के, तब सब सूत्र नितान्त॥०३३३॥

जन्मों की पशु-वृत्तियाँ, मिलें जन्म के साथ।
पर नर तब मानव बने, उनें रखे जब नाथ॥०३३४॥

अन्यज[४] कटुता पी गया, रहते हुए उदार।
उससे तनि भी शत्रुता, रखता नहिं संसार॥०३३५॥

भावनाओं में हो बनें, जब परिवर्तन नीक।
आदत गर्हित हो सकें, रे नर तब ही ठीक॥०३३६॥

आभूषण मन-नीक का, उत्तम शिष्टाचार।
जो व्यक्तित्व महान् का, नर को दे उपहार॥०३३७॥

अपना हो या और का, कालुष अवगुण, त्याग!।
शुभ-कर्मी का ही बने, जीवन क्योंकि पराग[५]॥०३३८॥

सदाचार ही दे बना, सर्वकृपा का पात्र।
अपना! जीवन का यही, अर्थशास्त्र है मात्र॥०३३९॥

---

१. विक्रम-स्थिरता; २. शौर्य-वीरता; ३. ह्रस्व-तुच्छ;४. अन्यज-अन्यों से उत्पन्न; ५. पराग-चन्दन।

बल जो दें साफल्य

दुख-थिति नहीं विडम्बना, परिवर्तन विभु नीति।
यह विकास-आयाम है, बना साम्य रख प्रीति॥०३४०॥

वृक्ष बीज में, शक्ति है, नर में इसी प्रकार।
सो, जो बढ़ आगे-गये, उन तक लक्ष्य पसार॥०३४१॥

जगा आत्म-बल धीरता, साहस ऐस प्रताप।
जो दुश्चिन्ताएँ कभी, छोड़ सकें नहिं छाप॥०३४२॥

साथ हो न हो बढ़ चलें, इष्ट लक्ष्य की ओर।
जिति जीवन संग्राम में, पाते अस ही, रोर[१]॥०३४३॥

पाप हो रहा सामने, यदपि स्वयम् बलवान्।
उसे न रोके, है अघी, वह भी अघी समान॥०३४४॥

कठिनाई में स्वयम् ही, जो ले सुपथ निकाल।
वही श्रेष्ठता पा सके, अपनी चाल सँभाल॥०३४५॥

सहज कर्म होते चलें, बाध न आये एक।
तब विकसें, नहिं वृत्तियाँ, कौशल बुद्धि विवेक॥०३४६॥

जी की जीवट ही करे, जीवन का निर्धार।
अतः जरा तारुण्य का, है नहिं वय आधार॥०३४७॥

जग-भर दृग-जल से भरे, मिले नहीं सहयोग।
साहस से जुट! काम में, आता निज उद्योग[२]॥०३४८॥

गुरुजन प्रति है सर्वदा, श्रद्धा आदर वार्य[३]।
उन-अनीति पर रोकना, उतना ही अनिवार्य[४]॥०३४९॥

---

१. रोर-प्रचण्ड; २. उद्योग-पुरुषार्थ, परिश्रम; ३. वार्य-वरण, ग्रहण करने योग्य; ४. अनिवार्य-आवश्यक।

जन्मा करने को उसे, केवल मैं ही सोच।
साहस हरे अदम्य हो, लोक-व्याप्त तब शोच[१]॥०३५०॥

मात्र उसे पहिले करें, हो प्रतीत श्रम-साध्य।
पथ इस साहस से मिलें, छुट बड़ अगिन अबाध्य॥०३५१॥

सहयोगी सद्-भाव का, कर उपयोग विकास।
तभी समुन्नत कर सके, मन के सभ्य प्रयास॥०३५२॥

डरें नहीं आयें भले, आपद्[२] विपद्[३] अनेक।
उन्नत, क्षमता शक्ति को, क्योंकि करे प्रत्येक॥०३५३॥

भले निकाले कोउ भी, त्रुटियाँ, फल जब वाम।
शन्स्य शूर पर जो बढ़ा, करने को शुभ काम॥०३५४॥

अटक[४] बने बलहीन के, मग का, जो पाषाण।
लख, सक्षम उससे करे, सीढ़ी का निर्माण॥०३५५॥

अन्त हेतु अन्याय के, लेते प्रभु अवतार।
सच, विभु है जग-दृष्टि से, जोय करे प्रतिकार॥०३५६॥

धैर्य अडिग संलग्नता, निश्चय प्रबल उछाह।
हों गम्भीर प्रयास से, कृत सब सफल अदाह॥०३५७॥

व्यक्ति परिस्थिति डालते, मग में कोटिक विघ्न।
पर न धैर्य चित-शान्त के, सम्मुख टिकें अतिघ्न[५]॥०३५८॥

लक्ष्य-समर्पित भाव, हो, सहना धैर्य अपार।
जय देते, जनने पड़ें, चाहे नव-व्यवहार॥०३५९॥

तत्परता उत्साह से, अवसर पर अधिकार।
सीढ़ी है उत्थान की, करना भूल सुधार॥०३६०॥

---

१. शोच-दुख, पीड़ा; २. आपद्-कठिनाइयाँ; ३. विपद्-दुख, संकट, शोक; ४. अटक-अड़चन; ५. अतिघ्न-अधिक नाश करने वाले।

श्रम-कठोर, कर्तव्य में, तत्परता उत्साह।
सेवा पर-हित साधना, दहें[१] सभी नर-दाह[२]॥०३६१॥

अपनी लगन प्रचण्ड से, कर उद्योग कठोर।
आँधी से ऊँचे उठें, साहस बल के घोर[३]॥०३६२॥

यथाशक्ति कर ध्यान से, भले लघुक हों काम।
लगन यही बड़ काम भी, कर तब सके ललाम॥०३६३॥

लगन कर्म है कर्म में, कभी न माने हार।
रत श्रम साहस धैर्य को, रख, दे ठीक निवार॥०३६४॥

पा ले चित्त समर्थता, लें यदि लगन उभार।
सो दें सर्व-विकास को, यह कोमल उपचार॥०३६५॥

शक्ति विचार-प्रवाह को, मन-गढ़[४] को आकार।
दे जय, पथ एकाग्रता, निश्चय शान्ति अपार॥०३६६॥

लय आग्रह अनुरोध के, अर्जन में निज दीन।
त्याग इसे, उत्साह को, रखे क्योंकि यह हीन॥०३६७॥

गुण-शन्सा ही बन सके, नर की उन्नति चाह।
जी-भर सो भरते रहें, लोगों में उत्साह॥०३६८॥

करता सबके सामने, झूठ-प्रतिज्ञा जोय।
उसके जैसी हानियाँ, नहीं उठाता कोय॥०३६९॥

असती को विपदा[५] लगे, सदा असत् से युद्ध।
पर रण रखे असत्य से, उत्साही सत्-बुद्ध॥०३७०॥

असत्-रोध में कूदता, सदा सती[६]-उत्साह।
रण असत्य से क्योंकि है, उसको नियति[७] अदाह॥०३७१॥

---

१. दहें-भस्म करना; २. नर-दाह-सन्ताप; ३. साहस बल के घोर, घोर साहस बल वाले; ४. मन-गढ़-कल्पना; ५. विपदा-कठिनाई; ६. सती-सत्य-निष्ठ; ७. नियति-सौभाग्य।

करने में उत्साह से, जो भी करे प्रवेश।
रहे विजयी कृत-कार्य[1] भी, उसका कर्म निवेश॥०३७२॥

है अस अग, सन्देह का, मन को करे विषाक्त।
नातों में कटुता भरे, कितने भी मधु शाक्त[2]॥०३७३॥

अशुभ कल्पना ही गढ़े, सन्शय अस यमराज।
इस कारण उलझे रहें, शंकी के मन काज॥०३७४॥

मिलता शंकाग्रस्त को, कभी न सुख सन्तोष।
लगे स्वर्ग में भी उसे, सम्मुख में कुछ दोष॥०३७५॥

पाल नहीं सन्देह है, मन का विषी विकार।
सृजन-ऊर्ज को दे बना, विघटन बैरी-झार[3]॥०३७६॥

सर्व प्रेरणा यास का, हनन करे सन्देह।
उन्नति-हित विश्वास को, सो जग[4] अलगा येह[5]॥०३७७॥

जब तक भय आता नहीं, डरें न तब तक आप।
भ्रम में नहिं, प्रत्यक्ष हो, करें प्रहार अमाप[6]॥०३७८॥

आदर्शों को दे नहीं, श्रद्धाहीन महत्त्व।
नाचें उसकी दृष्टि में, मात्र स्वार्थ मम-तत्त्व॥०३७९॥

भाव-श्रद्ध हो कर्म में, पूर्ण आत्म-विश्वास।
शिवा-रुद्र[7] बन शक्ति दे[8], दें जय का उल्लास॥०३८०॥

अतिशय दुख दे डालता, निष्क्रिय, रह एकान्त।
मन-निषेध को सान्त्वना, मिटे[9], शक्ति दे शान्त॥०३८१॥

दुश्चिन्तन उर-पीड़ से, तरे सान्त्वना-मर्ष[10]।
रचे प्रेरणा-भूमि को, करने को संघर्ष॥०३८२॥

---

१. कृत-कार्य-सफल मनोरथ; २. शाक्त-शक्ति वाले; ३. झार-ज्वाला; ४. जग-जगा; ५. अलगा येह-यह दूर करके; ६. अमाप-अपरिमित; ७. शिवा-रुद्र-पार्वती-शंकर; ८. दे-देकर; ९. मिटे-मिटाती है; १०. सान्त्वना मर्ष-सान्त्वना प्राप्त सहनशक्ति।

सफल अचूक सहायता, व्यक्त सान्त्वना-शब्द।
जो पीड़ित को दें बना, सहनशील दृढ़-अब्द[१]॥०३८३॥

यद्यपि लगती सान्त्वना, दो शब्दों का बोल।
है अति दुख कठिनाइ में, पर धृति आश अमोल॥०३८४॥

पीड़ित को तत्क्षण बने[२], जो सामर्थ्य सहिष्णु।
मात्र कथन वह सान्त्वना, हरे क्लेश भय विष्णु[३]॥०३८५॥

कड़ी दृष्टि, मन से रखे, नित प्रति हटा कषाय।
चमक तभी व्यक्तित्व में, सुगुणों की आ पाय॥०३८६॥

करें-एक, वश में करें, कथन कर्म मन-दृष्टि।
कर परिवर्तन सोच में, सहज शक्य यह सृष्टि॥०३८७॥

अनुशासन में हैं नहीं, जिसके मन आचार।
उसे लोभ, अरि के दिये, अवसि फँसा, दें हार॥०३८८॥

संयमहीन उजड्डता, धर, आपा जब खोय।
मूल शत्रु नर का नहीं, तब मन से बड़ कोय॥०३८९॥

हिलता अपनी सोच से, कभी न संयमशील।
समाधान करता रहे, सो सबके-हित श्लील॥०३९०॥

जो संकल्प निबाहते, रहते संयमवान्।
'वे सुन्दर हैं', स्वयम् को, मिटा, रखें जन-मान॥०३९१॥

जल-गति नहिं रोके रुके, जब पा बहे ढलान।
तस दृढ़-निश्चय कर्म में, रखता त्वरण समान॥०३९२॥

निश्चित दृढ़ उद्देश्य हो, बनता तब कल्याण।
न तु साधन से सिद्धि की, रहे लब्धि म्रियमाण[४]॥०३९३॥

---

१. अब्द-पर्वत; २. बने-बनाती है; ३. विष्णु-अग्नि;
४. म्रियमाण-मृतप्राय।

बने बवंडर जो उठें, शीघ्र बुझें, जस झाग।
बढ़ा समझ संकल्प का, सो पग, बने सुहाग॥०३९४॥

हो जब दृढ़-निश्चय, घनी, इच्छा, प्रबल प्रयास।
प्रकट गुप्त सामर्थ्य हों, विगुणी[१] हटें कुहास॥०३९५॥

सर्जन का, संकल्प है, मूल-भूत आधार।
दृढ़-निश्चय से चित्त को, सो दें श्रेष्ठ सुधार॥०३९६॥

असामान्य देते बना, इच्छा-बल अभ्यास।
करते लोग सराहना, सो कर वही प्रयास॥०३९७॥

बन सशक्त संकल्प का, रख दृढ़ इच्छा-शक्ति।
साहस उमग समर्थता, विकसें, तब अभिव्यक्ति॥०३९८॥

निश्चल निश्चय ले बना, मन को जस चट्टान।
नहिं प्रवेश पा दे सकें, दुष्ट भाव तब हान॥०३९९॥

दृढ़-निश्चय एकाग्रता, जीवट सतत्-प्रयास।
देकर साथ विवेक का, रच सकते इतिहास॥०४००॥

प्रगति और कर्तव्य से, मुँह को लेना मोड़।
शान्ति नहीं यह मात्र है, निष्क्रियता से जोड़[२]॥०४०१॥

मन रमना विश्राम में, है आलस्य प्रतीक।
रहने न दे समाज में, जो नर को रमणीक[३]॥०४०२॥

अपव्यय अन्यमनस्कता[४], आलस और प्रमाद।
नष्ट सर्व क्षमताओं को, कर, देते अवसाद॥०४०३॥

अकर्मण्य या आलसी, होता अस निरुपाय।
संकट और अभाव ही, जिसको पल पल खाय॥०४०४॥

---

१. विगुणी-बुरे; २. जोड़-जुड़ना; ३. रमणीक-मनोहर, सुन्दर;
४. अन्यमनस्कता-चित का कहीं और लगा होना।

रहे निठल्ला, किन्तु हो, द्रुतमति विद्यावान्।
जग को लाभ न दे सके, सजग! ऐस दे हान॥०४०५॥

करे न निज सामर्थ्य का, रख प्रमाद उपयोग।
तिरस्कार, दें हेलना[१], उसे उपेक्षा लोग॥०४०६॥

दीर्घ-सूत्रता ऊँघना, क्रोध भीति आलस्य।
वञ्चित उन्नति से रखें, बिगड़े सामञ्जस्य॥०४०७॥

तन में बल, पर जीविका, कमा न, ढूँढे आस।
कृपा न दें विभु भी उसे, जग दे दुत[२] उपहास॥०४०८॥

स्वयम् काम संकल्प से, करें करे उद्धार।
रहें अकर से कोटि भी, न तु अपने भी पार॥०४०९॥

अनालस्य सत्-धीरता, धरे क्षमा नित-दान।
दोष न देखे और के, है सुपुन्स, दें मान॥०४१०॥

दृष्टि युक्ति पग पग बढ़े, आशा वह उत्साह।
जड़ जिजीविषा धी करे, पर नैराश्य, अगाह॥०४११॥

अति निराश आवेश में, क्षण में कभी उछाह।
ऐसे जीवन का रहे, दुखदा दीन प्रवाह[३]॥०४१२॥

ज्योतित रखना सर्वदा, पा सकने की आस।
क्योंकि इसी से जन्म लें, चेष्टा शुभ इतिहास॥०४१३॥

स्वयम् हेतु अनुकूलता, प्रिय, करना सत्कार।
थिर-लाभी प्रतिकूल है, पर, सो नहिं-दुत्कार॥०४१४॥

संघर्षण अनिवार्य है, भव है सन्तत द्वन्द।
धैर्य करे क्षय आपदा, सो कर क्षय, पा नन्द॥०४१५॥

---

१. हेलना-अनादर; २. दुत-घृणा, तिरस्कार सूचक शब्द; ३. प्रवाह-घटना -क्रम।

कष पर कस जस ज्ञान हो, कुन्दन पीतल भेद।
तस संकट-सम्पद् कसे, सजन[१] या कि छल-छेद[२]॥०४१६॥

सन्शय खोजी-वृत्ति दे, रखे सजग चित भाव।
पर लख[३]! अति सन्शय जने, कटुता क्षोभ तनाव॥०४१७॥

विकल न हो, जो सामने, समुचित कर संघर्ष।
विचलन से गौरव नहीं, मात्र पाव मन धर्ष[४]॥०४१८॥

जीती हों कठिनाइयाँ, हो न सकीं या पार।
दे जातीं पर साहसी, सीखें कुछ उपहार॥०४१९॥

खड़ा करें, पग चाल दें, सद्-अनुमति अनुमान।
श्राप नहीं बहुधा सभी, बाधायें वरदान॥०४२०॥

व्याकुलता नहिं वाम में, चिन्त क्षोभ नहिं शोक।
अस मन-थिरता कार्य में, दे साफल्य अरोक॥०४२१॥

डिगा सके नहिं साध से, भले कठिनतम बाध।
दे सत्ताएँ गूढ़[५] भी, अस ही को निज राध[६]॥०४२२॥

और अधिक की जानना, जिनका रहे प्रयास।
प्रतिभाएँ निखरें छुएँ, नित वे उच्च विकास॥०४२३॥

कार्य चुनौती रूप में, करें सदा स्वीकार।
क्योंकि बने कर्तव्य, दे, तब यह युक्त विचार॥०४२४॥

नव नव गढ़ते योजना, पुनि पुनि बदल विचार।
हीन थके दुखिया रहें, अस श्रम-चोर गँवार[७]॥०४२५॥

नहिं पग बढ़ता एक भी, घटे रखे निज यास।
कोसे अस नर ईश को, तब पा अजय निरास॥०४२६॥

---

१. सजन-सज्जन; २. छल-छेद-छल-छिद्री; ३. लख-समझ; . ४. धर्ष -नपुंसकता; ५. गूढ़-छिपी हुई; ६. राध-कृपा; ७. गँवार-मूर्ख।

झूठे कारण दें बता, करें नहीं पुरुषार्थ।
वे जीवन नहिं मात्र हैं, शव सम व्यर्थ पदार्थ॥०४२७॥

भाग्य-भरोस मरीचिका, कुछ भी रचे चरित्र।
वर्तमान पल का करें, सो उपयोग पवित्र॥०४२८॥

समाधान-हित मर्म को, दे झिंझोर परिवेश।
पौरुष उठ कृतशील[१] हो, जुटता तब, बिन क्लेश॥०४२९॥

विक्रम, इच्छा-शक्ति को, दे विकास-पग, हर्ष।
सो सशक्तता दें इसे, कर जीवन संघर्ष॥०४३०॥

एक बार पाकर रहे, लक्ष्य, न थकता शूर।
सीखें! करना चाहिए, हों जब तक व्रत पूर॥०४३१॥

घोर तापसी को मिलें, सफल सुफल परिणाम।
कष्ट भले, पुरुषार्थ में, सो रत रह अविराम॥०४३२॥

सपने थोड़े देखना, करना अधिक प्रयास।
साफल्यों का पा सकें, तब निश्चित विश्वास॥०४३३॥

आवश्यक गुण हों भले, सभी मनुज के पास।
अवगति ही हो जो न हों, सद्-श्रम उचित प्रयास॥०४३४॥

घन-जल रवि-द्युति सम्पदा, मिल सकते बिन यास।
शक्य स्व-श्रम से ज्ञान का, पर अर्जन अभ्यास॥०४३५॥

जीवन गरिमा सार्थता, श्रम से जो उत्पन्न।
आत्मा को तेजोमयी, श्रीयुत्, करें प्रसन्न॥०४३६॥

सम्पद् सर्व-विभूतियाँ, सुखानन्द के स्रोत।
पावें वे, जिन चित्त में, निरत जली श्रम-ज्योत॥०४३७॥

---

१. कृतशील-क्रियाशील।

श्रम से जो डरता नहीं, बढ़ता वह तत्काल।
वञ्चित रहे सुयोग से, सो अवसर नहिं टाल॥०४३८॥

श्रम के पैरों से खड़ा, होना बना स्वभाव।
न तु पापों में डाल दें, दैनिक मिले अभाव॥०४३९॥

अर्जन श्रम से कर, रखे, व्यय से कुछ अधि आय।
धनुपयोग आवश्य में, करता, वह सुख पाय॥०४४०॥

हो भी प्रतिभा योग्यता, पर श्रम का हो चोर।
साधन ही नहिं चित्त भी, रहें हीन उस घोर॥०४४१॥

देह धर्म है सो बने, श्रमकर कोउ न हेय।
स्वाश्रय से इस कारणे, सहज प्राप आधेय[१]॥०४४२॥

दृढ़ता इच्छा-शक्ति में, हो भी प्रबल सुधीर।
शूर विक्रमी दे बना, नर को श्रम-गम्भीर॥०४४३॥

श्रम अति कठिन, महानता, कर पाता है, प्राप।
इसे छीन नहिं पा सके, छल भी भले अमाप॥०४४४॥

गुण महानता के सभी, श्रम से ही हों प्राप।
मानें सत्-श्रम लब्धि को, विभु भी उत्तम जाप॥०४४५॥

अपने बलबूते खड़े, जिसके कर्म विचार।
पाव न किसी प्रकार के, वह अभाव का भार[२]॥०४४६॥

जो लक्ष्यों की आँच में, तपे, करे तब प्राप।
शुभ अपना संसार का, कर वह सके प्रताप[३]॥०४४७॥

समा गया जिस चित्त में, जीवन है निज व्यर्थ।
पल पल वह निज काटता, रह अस्वस्थ असमर्थ॥०४४८॥

---

१. आधेय-जो धारण किया जाये; २. भार-कष्टग्रस्तता; ३. प्रताप-पौरुष, पुरुषार्थ।

कल कर लेंगे टालना, काम कभी नहिं होय।
पूर्ण किन्तु करके हटे, पाव सफलता सोय॥०४४९॥

कीर्ति सफलता पाव को, बन नहिं आश्रित हीन।
न तु यह चित की चाह दे, बना सदा को दीन॥०४५०॥

विवश विफलता ही करे, थीं क्या भूल, विचार।
पथ प्रशस्त[1] कर यत्न का, कहे, स्वरूप सुधार॥०४५१॥

जिएँ सफलता को, रखें, जीवन लक्ष्य महान।
जग नहिं विभु से भी मिलें, उनें प्रेम अनुदान॥०४५२॥

करता अन्त:-धर्म ही, यदि रचना का रोध।
मात्र आस शुभ-पाक[2] की, जस नग चढ़े अबोध॥०४५३॥

मन विचार अनुकूल हों, आस भाव-संकल्प।
तब करना, उत्साह से, होता सफल न गल्प॥०४५४॥

मानस[3] संसाधन रखें, मात्र लक्ष्य पर साध।
आस सफलता की तभी, बन पड़ती अविराध॥०४५५॥

वैभव-सुख-चातुर्य का, चढ़े चित्त पर मान।
घटे आत्म-बल आत्म के, गौरव का तब भान॥०४५६॥

हारें साधन शक्तियाँ, रख मन हारा साथ।
अत: मनोबल में रखें, जय-विश्वास सनाथ[4]॥०४५७॥

जुटे ध्येय-हित योजना, सन्साधन अनुरूप।
यतन आत्म-बल ऊँच से, पर कर[5] फले अनूप॥०४५८॥

वैभव ऊँची कोटि का, मनुज मनोबल मात्र।
साधारण से दे बना, जो विशिष्ट शुषि[6]-पात्र॥०४५९॥

१. प्रशस्त-उत्तम, श्रेष्ठ; २. पाक-परिणाम; ३. मानस-मन, चित्त; ४. सनाथ-शक्तियुक्त, सशक्त; ५. पर कर-परन्तु करके; ६. शुषि-बल।

सभी प्रयासों में करें, ओजस्वी सञ्चार।
आत्म-शक्ति जाग्रत रखें, हार सके तब हार॥०४६०॥

नींव मनोबल की रखे, जितना पुष्ट टिकान[1]।
कर्म बना उतने सकें, नर उत्कृष्ट महान॥०४६१॥

यह करने की शक्ति है, मुझमें हो विश्वास।
यही आत्म-श्रद्धा भरे, उन्नति में उत्प्रास[2]॥०४६२॥

अविश्वास है स्वयम् का, निज-प्रति अपर-विषाक्त।
जिससे 'ही' मन तन्त्र हो, अबल उदास समाप्त॥०४६३॥

श्रद्धा को कुछ साक्ष्य भी, देते जब बल आस।
हो थायी, श्रद्धा बने, तब मन में विश्वास॥०४६४॥

लषित लक्ष्य को पा सके, मात्र आत्म-विश्वास।
पूर्ण शक्ति से कर्म को, देता क्योंकि प्रयास॥०४६५॥

द्वार, आत्मविश्वास दे, अमर-शक्ति के, खोल।
अथ हो[3], जीवन की बहे, जिससे धार विलोल॥०४६६॥

परख आत्म-विश्वास को, दे अयुक्त[4] को छोड़।
वह प्रशन्स्य सत्साहसी, जो दे निज को मोड़॥०४६७॥

रखे, निरख निज शक्तियाँ, उन पर जो विश्वास।
उठ उनसे ऊँचा सकें, उसके अथक प्रयास॥०४६८॥

रहे आत्म-विश्वास से, तत्पर चतुर युवान।
पर शंकाओं से घिरा, बनता वृद्ध पुमान्॥०४६९॥

असफलता नैराश्य से, घेरें जब परिणाम।
करें आत्म-विश्वास को, तब दृढ़, चित को थाम[5]॥०४७०॥

---

१. टिकान-पड़ाव, ठहराव; २. उत्प्रास-अतिशय श्रेष्ठता; ३. हो-होकर;
४. अयुक्त-अनुपयुक्त; ५. थाम-रोककर।

बढ़ता जो क्रम ठीक से, अंकुर, करे विकास।
धनी आत्म-विश्वास से, तस रख सहज प्रयास॥०४७१॥

ग्रसित रहे सन्देह से, न हो आत्म-विश्वास।
नहिं उस जीवन में झरे, उन्नति कभी सुवास॥०४७२॥

न्यून आत्म-विश्वास हो, भाव भावना हीन।
व्यंग चिढ़न लाजादि सी, पनपें तब लत दीन[१]॥०४७३॥

निज दुर्बलता को हटा, साधन बना अहीन।
प्रगति आत्म-विश्वास के, हो तब सके अधीन॥०४७४॥

प्रखर मनुज संकल्प हो, ठोस आत्म-विश्वास।
तब साहस जाग्रत करे, चित समर्थ हुल्लास[२]॥०४७५॥

मन में दृढ़-विश्वास हो, श्रम से न हो अधीर।
कोउ काम करना उसे, सदा शक्य बिन पीर॥०४७६॥

अल्प कष्ट भी दे डिगा, उर का विभु-विश्वास।
पर सच, लघु करते रहें, विभु आश्रित का गास॥०४७७॥

आत्म श्रद्ध विश्वास हो, हो उद्बुद्ध[३] स्वबोध।
बल बढ़ तब संकल्प का, हटता सब अपरोध[४]॥०४७८॥

बहे आत्म-विश्वास से, अतुल शक्ति की धार।
तब प्रचण्ड पुरुषार्थ हो, करे सिन्धु भी पार॥०४७९॥

रक्षा रहे स्वमान की, इतना बनें कठोर।
इधर उधर न तु ठेलतीं, जगत् क्रूरता रोर[५]॥०४८०॥

सम्मुख अहम् अ-न्याय के, अभ्यर्पण, अपमान।
तेज धैर्य साहस नसें, हो स्वमान[६] अवसान॥०४८१॥

---

१. दीन-विकलतापूर्ण; २. हुल्लास-उल्लास; ३. उद्बुद्ध-जाग्रत; ४. अपरोध-निषेध, बाधा, रोक; ५. रोर-विपदा; ६. स्वमान-आत्म-सम्मान।

पराधीन हो जीविका, निजधन तब उद्योग।
कृपा-भार के वास[1] में, दुख ही पावें लोग॥०४८२॥

जो जोखिम दायित्व से, डरें, बचें बन जान[2]।
उनमें जीवित रह सके, नहीं आत्म-सम्मान॥०४८३॥

टिके सहारे और के, जिनका पोष विकास।
शीघ्र करे हतभाग आ, उन जीवन में वास॥०४८४॥

धन है ऊँची कोटि का, मनुज आत्म-सम्मान।
मान दिलाता सर्वथा, रक्षित रखें भवान्॥०४८५॥

थपकी दे उत्साह को, बढ़ चलने को शौर्य।
परिशीलन की श्रेष्ठता, विभु से बढ़े[3] अदौर्य[4]॥०४८६॥

थिति से पुनि निपटें, कहे, होकर दुख साकार।
साहस शौर्य प्रचण्ड दे, दे भी अत: निवार॥०४८७॥

कोउ अवस्था भी भले, हो, रह सदा प्रसन्न।
दुख नसते, हो भी रहे, तब साहस सम्पन्न॥०४८८॥

बिना किये कठिनाइयाँ, पार, पा गये पार।
गौरव गुरुता से सजे, तब नहिं चित-संसार॥०४८९॥

बूँदें कर्मठ स्वेद की, हैं सौभाग्य विकास।
कुछ भी पाने हेतु सो, रख सत् लगन प्रयास॥०४९०॥

करे पतन उत्थान के, स्रोत स्वयम् नर लब्ध।
निपट अकेले सो बना, रे! निज शुभ-प्रारब्ध॥०४९१॥

उच्च भाव संस्कार ही, रखें करें जब काम।
जग-जीवन में पा रहें, तब शुभ-पथ अविराम॥०४९२॥

---

१. वास-रहने का स्थान; २. जान-चतुर, सुजान, ज्ञानवान्; ३. बढ़े-बढ़ाती है; ४. अदौर्य-निकटता।

निरा स्वार्थ घिन पाव

मा 'नहिं' या 'यह' अर्थ दे, माया अन-अस्तित्व।
मात्र सक्ति[१]-आचार दे, इसे सत्त्व[२] स्वामित्व॥०४९३॥

तन-रचना से सृष्टि में, मनुज श्रेष्ठतम जीव।
मन पर, हाय विडम्बना, पशुधन से भी क्लीव[३]॥०४९४॥

जैसे मिलें निसर्ग से, बो बबूल नहिं आम।
दोष भरा मन दे सके, तस भल एक न काम॥०४९५॥

लगा रहे पीछे किया, मनुज-जीव का कर्म।
जन्मे भूत विभिन्न में, फलतः है सत्-मर्म॥०४९६॥

क्रोध अहम् अति धूर्तता, संग्रह-मति बड़-स्वार्थ।
बहु चिन्ताएँ, द्रोह की, वृत्ति, विषल[४] प्राणार्थ॥०४९७॥

ईर्ष्यु सदा-शंकित घृणी, क्रोधी, रखे-अतोष।
छल पर-आश्रित सर्वदा, सहता दुख का ओष[५]॥०४९८॥

मोह अज्ञता भीरुता, घेरें करें अधीन।
भूत भाग्य का आ चढ़े, तब जब पौरुष, हीन॥०४९९॥

हितकर समझे, सो रखे, मनुज पुष्ट हंकार।
पर हा! पल पल घात का, रचे, सहे संसार॥०५००॥

लाभद[६] लगती क्षुद्रता, हित भी दे कुछ साध।
पर आपद् दुत हानि दे, सदा अन्ततः बाध[७]॥०५०१॥

दे दम[८] दण्ड प्रताड़ना, सुनियन्त्रण भय-युक्त।
पर विकास सम्भावना, पूर्णतया हों लुप्त॥०५०२॥

---

१. सक्ति-आसक्ति; २. सत्त्व-अस्तित्व; ३. क्लीव-क्षुद्र, नीच, खोटा; ४. विषल-विष; ५. ओष-दाह; ६. लाभद-लाभ देने वाली; ७. बाध-कष्ट, पीड़ा; ८. दम-दमन।

करने में सद्कर्म के, सजग स्वार्थी भाव।
पा ले निज-हित को भले, पर चित-शुचि नहिं पाव॥०५०३॥

अन्धा हो अति स्वार्थ में, पाता बहु आघात।
क्योंकि विवेक-विनाश का, तब यह बहे प्रपात॥०५०४॥

लोक प्रेम कब प्रेम, है, ले दे का व्यापार।
ले-दे-पूर्ति अभाव में, ले न टूटते, बार[१]॥०५०५॥

लगे वृत्ति अपनत्व की, बनने जब अनुदार।
करे मनुज का स्वार्थ ही, तब उसका संहार॥०५०६॥

अधिक तुरत के स्वार्थ में, जब बँटता जन-ऐक्य।
तब चित चित में आ घुसें, भ्रष्टाचार अनैक्य[२]॥०५०७॥

रखें कामना स्वार्थ में, स्वजनों से सम्बन्ध।
उनकी उनें अवश्य ही, मिलती घृणा असन्ध[३]॥०५०८॥

कर्मों को तजना नहीं, तजना नहीं पदार्थ।
अवसि मात्र पर त्यागना, फल में इच्छा स्वार्थ॥०५०९॥

निर्बल को घायल करे, खल को अपन बनाय।
चन्द्रहास[४] दो धार का, होता है अन्याय॥०५१०॥

जिसके सुख की मूल हैं, छल के मुख, अन्याय।
भाग्यहीनता स्वामिनी, उसकी बन हर्षाय॥०५११॥

अपना जीवन धारना, हथिया पर-अधिकार।
विष्ठा-सम पर-मान्स का, है यह भोगाहार॥०५१२॥

शक्ति प्राप अपराध से, विरथा करते लोग।
भल-कृत[५] में नहिं हो सके, क्योंकि तनिक उपयोग॥०५१३॥

---

१. बार-देरी; २. अनैक्य-अव्यवस्था; ३. असन्ध-सम्बन्ध टूटना;
४. चन्द्रहास-तलवार; ५. कृत-काम।

विपदा असत्-विरोध को, माने जो भी व्यक्ति।
उसे असत् की दासता, लगे निरापद शक्ति॥०५१४॥

दे हिन्सा अन्याय को, जो समाज सम्मान।
नहिं सब प्रति उसकी रहे, न्यायिक-दृष्टि समान॥०५१५॥

जैसे सुन्दर रूप को, देती जरा बिगाड़।
तस उद्धति सम्पत्ति[१] दे, कर खिलवाड़ उजाड़॥०५१६॥

लिया कभी अन्याय से, अन्य-द्रव्य अधिकार।
करे सुने से भी मिले, निन्दा, हेल[२] अपार॥०५१७॥

नहिं अपराध सुधार ही, किया न पश्चात्ताप।
उस पल से समझें, गये, समा पतन में आप॥०५१८॥

लदा तभी लौं ही रहे, पर-अनीति का भार।
व्यक्त-असहमति से न दें, जब लौं फेंक उतार॥०५१९॥

अति न्यायी सत् का रखे, जो दृढ़ कर्म विचार।
कुटिल दृष्टि की ढीठता, उससे रहे निनार[३]॥०५२०॥

अन्यों पर पुरुषार्थ का, न कर व्यर्थ व्यवहार।
कर प्रयोग कर जो सके, अपना वरन् सुधार॥०५२१॥

रहे न जस तल छेद से, घट में जल ठहराव।
खोटाचारी में नहीं, तस सद्‌गुण रुक पाव॥०५२२॥

त्यागे रहे सुवृत्तियाँ, पापों में ही ध्यान।
बच नहिं दुर्गति से सके, भले विदुर[४] धनवान्॥०५२३॥

लक्ष्य पाव को जो चुने, तज भलता, व्यभिचार।
उससे बड़ा समाज का, कोउ न अरि अनुदार[५]॥०५२४॥

---

१. सम्पत्ति-सम्पदा, समृद्धि; २. हेल-अवज्ञा, अनादर; ३. निनार-दूर; ४. विदुर-चतुर; ५. अनुदार-संकीर्ण हृदय।

छिपा मनुज जितना रखे, अपने दुर्गुण दोष।
आत्मा पर उतने चढ़ें, घन मालिन्य अतोष[१]॥०५२५॥

कोउ नियोजित की गई, गतिविधि है यदि तुच्छ।
ताप श्राप धिक्कार ही, दे, चित रखे असुच्छ॥०५२६॥

गेहूँ बोकर काटना, चाहे धान किसान।
सम्भव नहिं खल कर्म से, तस पाना सम्मान॥०५२७॥

इक भी अन्तस में रहे, भले दीन सा दोष।
रखता बना समाज में, निन्द-पात्र यह मोष[२]॥०५२८॥

जैसे भूसे में गिरी, उसे भभकती आग।
अन को भी तस ले बना, अघी, असह का राग[३]॥०५२९॥

देते सुख हंकार को, कर अपकृति जो तोष।
फल मिलने पर कोसते, वे ही प्रभु को मोष॥०५३०॥

किये अघों से स्वयम् के, घिन नहिं जब तक होय।
इंगित अन में दोष का, करना उचित न कोय॥०५३१॥

समझदारियाँ जान लीं, पर अघ तजा न नेक[४]।
अस थिति में धीवन्तता, चित में चढ़े[५] न एक॥०५३२॥

तड़प, अन्य के पाप से, विभु से करे गुहार।
हा! न डरे नर, और से, कर पर उसी प्रकार॥०५३३॥

सब रस चख भी तुष्ट हो, चख विष्ठा ही काग।
दुष्टों को तस नन्द दे, मात्र निन्द-अनुराग॥०५३४॥

बाहर उजला, भीतरी, पाप मैल आगार।
अस नर खर[६] सम है चरे, सिंह चर्म जो धार॥०५३५॥

---

१. अतोष-अतृप्ति; २. मोष-चोर; ३. राग-द्वेष; ४. नेक-थोड़ा;
५. चढ़े-प्रभाव करना; ६. खर-गधा।

बनना पक्षी[१] दुष्ट का, बने[२] उसे बड़ व्याध।
ढाल बना करने लगे, इसे, क्योंकि अपराध॥०५३६॥

डूब दुष्टियों[३] में लगे, रहना-प्रिय अघ-लीन।
भले लगे हँसता, रहे, पर वह सौख्य-विहीन॥०५३७॥

सहसा दोष उघारना[४], दुख दे उसे अपार।
बहुधा हो पाता नहीं, तब उस शक्य सुधार॥०५३८॥

अस्त पाप का पाप हो, क्षमा ईश से माँग।
अस तोषी रखते रहें, सतत् पाप में टाँग॥०५३९॥

घाव न निज लखती, लखे, विभु के, आँख कलंक।
तज निज नहिं, खोजत फिरे, दुर्जन अन के पङ्क[५]॥०५४०॥

उच्च कुलज पर कर्म में, सदाचार से हीन।
विधि से उसको भी मिले, फल सब सा अकुलीन॥०५४१॥

दारु-सिक्त[६] मिल शुष्क से, जल पावे अवसान।
तस दुष्टों के साथ से, मिलता दण्ड समान॥०५४२॥

है शिक्षा में ज्ञान की, दोष, मिला जो खेद।
उसे न अधि रो, खोज ले, सम्यक्-पथ, लख छेद॥०५४३॥

हानि करे वाचालता, विरथा किया अलाप।
नहिं कर! वाणी के जने, दुरुपयोग से पाप॥०५४४॥

दोष रूप में ही दिपें, दुख देते जब दोष।
तब हट सकते, पा सके, तब चित उनसे मोष[७]॥०५४५॥

क्षीर भर सकें, फेंक दें, यदि मटकी से तोय[८]।
चित में तस गुण पैठ हो, जब अघ एक न होय॥०५४६॥

---

१. पक्षी-पक्ष लेने वाला, तरफदार; २. बने-बनाता है; ३. दुष्टि-दोष; ४. उघारना-दोषों को कह देना; ५. पंक-पाप; ६. सिक्त-भीगा हुआ; ७. मोष-मुक्ति; ८. तोय-पानी।

हेतु किसी के क्रोध के, होते हैं यदि आप।
तजें दोष लख स्वयम् का, तब कर पश्चात्ताप॥०५४७॥

जब भी भूल प्रतीत हो, तज चट करें सुधार।
अड़ चलना दुष्पन्थ का, न तु हो सिद्ध कुठार[1]॥०५४८॥

दोष न मढ़ सिर और के, असफल हों जब काम।
लख! की भूलें, पा सके, तब निज लक्षित ठाम॥०५४९॥

दूषित दोषों से, रहे, निन्दक सदा कृतघ्न।
तभी सफल शुभ जी सकें, उससे न हों विलग्न[2]॥०५५०॥

हैं दुष्कर्म प्रसन्नता, पृथक विषय विपरीत।
सुख पाने हित सो तजें, नीत कुकर्मी प्रीत॥०५५१॥

मौन रहें निज दोष को, सुनकर, यदि निर्दोष।
यदि सदोष हैं तो करें, निज सुधार बिन रोष॥०५५२॥

न रख राग जग से, नहीं, कर भूले भी पाप।
पा कर पालन धर्म का, सद्-साहित्य अलाप[3]॥०५५३॥

उससे पा अपकार भी, समझें, है उपकार।
अघ तजने का बोध दे, यह तब क्योंकि अपार॥०५५४॥

साथ अधम का दें नहीं, रहें कभी नहिं साथ।
तब सत्-सुख उत्कर्ष के, पा पग सकें अकाथ॥०५५५॥

मृदु बोले, खल के रहे, साथ न देता मान।
पाता अस नर लोक में, त्राण शोभ उत्थान॥०५५६॥

दोष किसी के सामने, कुपथी का न उघार।
मात्र समझ एकान्त में, दे, तब शक्य सुधार॥०५५७॥

---

१. कुठार-नाश करने वाला; २. विलग्न-संलग्न; ३. अलाप-पाठ।

उन्नति देता है यही, पथ दे यही सुधार।
करना, जन-सामान्य से, निज भूलें स्वीकार॥०५५८॥

जैसे ही नर खोलता, अपने दुर्गुण मित्र।
शान्ति सुयश पावे बने, उसका विमल चरित्र॥०५५९॥

ज्ञात कराए स्वयम् के, दोष, लखें या आप।
सजग! सीख वह दे रहा, बनने की निष्पाप॥०५६०॥

भरसक दूषण से बचे, धारण कर अनिवार्य।
कर्म-कुशलता है यही, सफल करे जो कार्य॥०५६१॥

पथ चुन दृढ़ता से बढ़ें, करें सफलता प्राप।
सम्मति उनकी ही गहें, जिससे बनें विशाप[१]॥०५६२॥

सम निन्दा शन्सा जिसे, न दे किसी को चोट।
बैर रखे नहिं, हो सके, वह मन शान्त निखोट॥०५६३॥

अन्तिम अवसर दे दिया, विभु ने, है अनुताप।
सो कर आत्म-सुधार रे, तज 'ही' से[२] 'ही' पाप॥०५६४॥

पुष्प-खेत में मैल ही, गुबरैला की साँध[३]।
ओछा भी जग-पाप से, तस रखता निज बाँध॥०५६५॥

प्राप सफलता ज्यों हुई, चहुँ-दिश पीटा ढोल।
तव प्रभाव प्रतिभा नसे, अस करनी का झोल[४]॥०५६६॥

जो विचार ओछे रखें, करते ओछे काम।
उठें नहीं, होकर रहे, उन जीवन अपनाम[५]॥०५६७॥

श्रेष्ठाचारों में करें, वैभव का उपयोग।
इतराने पाखण्ड में, न तु रह करे कुभोग॥०५६८॥

---

१. विशाप-पापमुक्त; २. 'ही' से-सच्चाई से; ३. साँध-लक्ष्य;
४. झोल-निकम्मापन; ५. अपनाम-बुरानाम, बदनाम।

मेरा कहना झूठ ही, दर्शाना है प्यार।
पर अपना, जो भृत्य सा, करे स्वार्थ-बिन कार॥०५६९॥

अपने ही सुख हेतु है, उगा भक्ति का भाव।
सहे स्वयम्, दे और को, पर दुख भक्त दिखाव॥०५७०॥

ढोंग न जिसके कर्म में, चोरी चुगली झूठ।
संग न पापी का करे, जी वह सके अनूठ[१]॥०५७१॥

जग चाहे क्या आपसे, निन्दा से हो ज्ञान।
सो निन्दा की सीख से, बन नर सके महान॥०५७२॥

सती[२] रहें, सौभाग्य हैं, निन्दा मिथु-अभियोग।
क्योंकि साधुता प्राप हो, सहकर हेल[३] अयोग[४]॥०५७३॥

निन्दक निकष[५] यथार्थ में, दर्शाता है दोष।
पाव पतन पर जो रखे, निन्दा के प्रति रोष॥०५७४॥

सच-निन्दा को भी न दे, रे! चित में ठहराव।
पतित नकारी ही बने, न तु यह बुद्धि स्वभाव॥०५७५॥

निज अवगुण पूछे, करें, तब ही मात्र बखान।
बैर बढ़ाता अन्यथा, पर-अगुणों पर ध्यान॥०५७६॥

मर्म पराया भेदता, करके वचनाघात।
रहता घेरे मृत्यु का, उसको झञ्झावात॥०५७७॥

रूखी हों सम्वेदना, छल हो शिष्टाचार।
बनें रुधिर के नात भी, तब मुँह-फिरे अचार[६]॥०५७८॥

धोखा दे संसार में, धोखेबाज कहाय।
धोखे से धोखे उसे, स्वयम् बने असहाय॥०५७९॥

---

१. अनूठ-सुन्दर; २. सती-सत्य-पथी; ३. हेल-उपेक्षा;
४. अयोग-अनौचित्य; ५. निकष-कसौटी; ६. अचार-आचार।

मनस-पटल पर आज का, घटित-दुखद मत छाप।
इसका झुलसाता रहे, न तु चिन्तन बन ताप॥०५८०॥

सजग! दोष दिखते नहीं, उसमें जिसमें राग।
और द्वेष देखे नहीं, पर[1] गुण-रूप पराग॥०५८१॥

औरों के प्रति द्वेष की, वृत्ति स्वघाती भ्रात।
क्योंकि सिद्धि प्रत्येक में, बने बाध बिन-बात॥०५८२॥

खड़े किये अरि ढेर से, यदपि मूर्खता होय।
महामूढ़ता पर तजे, सख्य भले का जोय॥०५८३॥

हिन्सा के पथ में बिछे, अन्धकार भटकाव।
अन्य-अहित हिन्सा, अतः, तज कृत वच अस भाव॥०५८४॥

अहम् स्वार्थ निज-भीतरी, फल की इच्छा त्याग।
मात्र जने अघ-वृत्तियाँ, क्योंकि इनी का राग॥०५८५॥

होने से चित राग में, बुझे धर्म की आग।
जाग्रत-तेज विवेक का, किन्तु मिटाता राग॥०५८६॥

राग-द्वेष में लीनता, बनती जब मनचीत[2]।
पालन में कर्तव्य के, तब हो श्रान्ति[3] प्रतीत॥०५८७॥

सब पातित्य अनर्थ में, राग द्वेष ही स्रोत।
कृत में पर समभाव से, सम्भव मनुज उदोत[4]॥०५८८॥

रागज द्वेषज चित्त में, आ जा रखें, विकार।
सहज मिटाना सो इनें, रख सद् सोचाचार॥०५८९॥

राग-द्वेष मल को हटे, जिन जल-रूपी ज्ञान।
मुक्त रहें, मन-तीर्थ में, क्योंकि करें वे स्नान॥०५९०॥

---

१. पर-पराये; २. मनचीत-मनभायी; ३. श्रान्ति-श्रम, कठिनाई;
४. उदोत-वृद्धि, उन्नति।

दिव्य सनातन नित्य है, चिन्मय प्रेम-स्वरूप।
उर-बस मिटे[१] अँधार के, रागोदित भव-कूप॥०५९१॥

स्वार्थ-रहित रख भावना, करना कर्म सदैव।
बाँधे नहिं तब जीव को, करम, वरन् हो शैव[२]॥०५९२॥

जटिलताओं में दे फँसा, बढ़ा भौत-व्यय जाल।
आजीवन तब भोग की, भोगे मनुज कुचाल॥०५९३॥

दुष्कर्मों अपकार[३] से, पा दुस्साहस, आश।
बहुधा निज यश-कामना, करती सर्व-विनाश॥०५९४॥

बड़पन शन्स न पा सके, पिटवा पीट ढिंढोर।
वरन् जगत् बहुधा रखे, अस को कर इक ओर॥०५९५॥

कीर्ति शक्ति दे, मातु सी, करे आत्म-निर्माण।
पर अपयश की कालिमा, जीते जी ले प्राण॥०५९६॥

लोक साधना की गई, रहती मूल्य-विहीन।
यश पाने की लाल के, जब वह रहे अधीन॥०५९७॥

दें या दूँ सुख, भावना, दे चित विमल अयुद्ध[४]।
पर लें लूँ सुख, सर्वदा, अन्तः जने अशुद्ध॥०५९८॥

पतित चेतना को करे, नसे पुण्य[५] की बेल।
सुख उस दीप समान जो, जले, जलाकर तेल॥०५९९॥

सुख-इच्छा ही पाप को, करने की दे सीख।
सो तज, कुछ पापी नहीं, सुख की इषण सरीख॥०६००॥

दुख है ईश्वर का दिया, दुर्लभतम उपहार।
भूल-हेतु जस दण्ड दे, करता गुरु उपकार॥०६०१॥

---

१. मिटे-मिटाता है; २. शैव-कल्याण; ३. अपकार-अनर्थ; ४. अयुद्ध-शान्त; ५. पुण्य-सत्कर्म।

डूब न चिन्ता खेद में, देख पराये पाप।
प्रथम धर्म, निज पाप का, करना पश्चात्ताप॥०६०२॥

कर्म कदाचित भूल में, कर बैठे चण्डाल।
छिपा न तब, पछताव से, मन से शक्य उगाल॥०६०३॥

तत्क्षण धोवन[१] से छुटे, जैसे धब्बा छाप।
नसता सत्-अनुताप[२] से, तस कुकर्म का पाप॥०६०४॥

भाव-शक्ति घन[३]-चितवना[४], प्राणवान हो ज्ञान।
अनुशीलन रस कर सके, चरित उच्च निर्मान[५]॥०६०५॥

बन, धन के रहते सके, नर का सन्त स्वभाव।
क्योंकि मात्र, धन-लाल दे, अगुण, दुष्ट, बरताव॥०६०६॥

मृत्यु जीव का कर सके, कभी प्राण संहार।
तस भय दे धनवान् को, अनल, मोष[६], परिवार॥०६०७॥

धन मिलने से हो नहीं, कभी मनुज स्वाधीन।
उसके वरन् अधीन हो, बने हीन मतिहीन॥०६०८॥

नहिं अनीति उत्कोच[७] का, धन ऐश्वर्य विपाप[८]।
क्योंकि भ्रमित-मन पीढ़ियों, दें, सो दें परिताप॥०६०९॥

धनिक सूम संसार में, मणिधर सर्प समान।
उनसे अच्छे पेड़, दें, खग को जो फल त्रान[९]॥०६१०॥

धन लालच की कीच में, मल-कीड़ा सा तोष।
हेय जिए, फिर भी तजे, नर छल घात न दोष॥०६११॥

धन नहिं, जाता जीव के, केवल साथ स्वभाव।
पर विडम्बना सञ्चता, नर धन चित्त-छलाव॥०६१२॥

---

१. धोवन-धोने की क्रिया; २. अनुताप-पश्चात्ताप; ३. घन-निरन्तर, गम्भीर; ४. चितवना-दृष्टि; ५. निर्मान-अहम् रहित; ६. मोष-चोर; ७. उत्कोच-रिश्वत; ८. विपाप-पाप रहित; ९. त्रान-आश्रय।

विस्मित नर निज ऋद्धि से, कर सकता, जो व्यर्थ।
पर पा सकने में रहे, पर श्रद्धा असमर्थ॥०६१३॥

धन-सञ्चय ले व्यक्ति को, लोभ मोह में बाँध।
और वन्श को सौंपता, अगुणी-पथ के आँध[1]॥०६१४॥

धन-स्वभाव, धी को करे, एषाओं की ओर।
तब नर भोगी लालसा, जगे, करे अघ घोर॥०६१५॥

बचने हेतु विपत्ति से, कर अघ न्यौते गास।
पर विस्मय, फिर भी रखे, नर सम्पद्[2] की आस॥०६१६॥

नहिं प्रसन्नता दे सकें, विभव[3] विलास-उपाय।
रत इनमें, असफल रहे, असन्तोष ही पाय॥०६१७॥

अर्जित अर्थ अधर्म से, करे अहम् उत्पन्न।
तब नर पथ-विचला चले, दे जो पतित प्रपन्न[4]॥०६१८॥

अति-अनल्प सम्पन्नता, कारा जाल कठोर।
कर दे छिन्न समाज से, देती सोच सिकोर[5]॥०६१९॥

पाना अनुचित-लाभ का, प्रिय लगता तत्काल।
किन्तु समय-उपरान्त दे, अपर त्रास क्षति आल[6]॥०६२०॥

रहे, स्नेह सहयोग का, धन ही यदि आधार।
तब सम्बन्ध-विखण्ड में, अवसि न लागे बार[7]॥०६२१॥

धन का यदि नहिं बन पड़े, रक्षण सद्-उपयोग।
बना दीन से दीन, दे, चिन्त गास दुख-भोग॥०६२२॥

रखते चिन्ता पेट की, संग्रह की अठ-याम।
कर वे जन-हित का सकें, नहिं कदापि शुभ-काम॥०६२३॥

---

१. आँध-अँधेरे; २. सम्पद्-समृद्धि; ३. विभव-ऐश्वर्य; ४. प्रपन्न-कष्टग्रस्तता; ५. सिकोर-संकुचित करना; ६. आल-झञ्झट; ७. बार-देरी।

मात्र प्रपञ्च कुकर्म के, धन तो दे उपहार।
विधनत[१] ही सच्चा करे, सो जीवन को प्यार॥०६२४॥

अर्जित धन अन्याय से, किया पात्र को दान।
पुण्य न दे, मनभाव को, फिर भी दे अभिमान॥०६२५॥

आवश्यकता-मात्र को, कर धन का उपयोग।
पड़ विलासिता में बने, अमर्याद न तु भोग॥०६२६॥

करे पतित धन-सम्पदा, जब लौं उसमें प्रीत।
लगा किन्तु सद्काम में, दे मंगल जस मीत॥०६२७॥

निर्धनता ही आँकती, आवश्यक-क्या मोल।
हो नहिं हत[२], सद् ओर को, पग दे यही, विलोल॥०६२८॥

केवल गुण ही दे सकें, सकल सुभीता मान।
नहिं धन के पीछे पड़े, हुआ जिसे यह ज्ञान॥०६२९॥

अर्जन हो मन-सत्य से, व्यय हो जगत् हिताय।
बना सके धन-धान्य को, सार्थक यही उपाय॥०६३०॥

श्रेष्ठ न माने स्वयम् को, होता वही विशेष।
क्योंकि न उसका गर्व से, हो पावे तब श्लेष[३]॥०६३१॥

उन्नति पा, पर-ढाल हो, न बन कभी हंकार।
होकर दर्पी का रहे, क्योंकि पतन संहार[४]॥०६३२॥

होने जीवन-लक्ष्य की, न दे प्राप्ति पहिचान।
ध्वंसक तत्त्वों से बना, है हम[५] क्योंकि वितान[६]॥०६३३॥

आ पाते आदर्श ही, नहिं सेवा सिद्धान्त।
अहम् जिए तब लौं रहे, चित सभीत आक्रान्त॥०६३४॥

---

१. विधनत-गरीबी; २. हत-निराश; ३. श्लेष-संयोग, सम्बन्ध; ४. संहार-नाश, अन्त; ५. हम-अहम्कार; ६. वितान-समूह।

करता दो के बीच में, खड़ी भीत गम्भीर।
होता स्वार्थी सोच का, क्योंकि अहम्, बिन-धीर[१]॥०६३५॥

जहँ हंकार, समर्थता, युत हों स्वेच्छाचार।
मिल अतिरिक्त अनर्थ के, न सके वहाँ सुचार[२]॥०६३६॥

जान बूझ दें और का, भुला, किया उपकार।
बहुधा अस निर्लाज ही, बढ़ा रखें हंकार॥०६३७॥

आतुर सुनने को रहे, पर-मुख से निज शन्स।
पोष यही हंकार का, उसे सदा दे भ्रन्स[३]॥०६३८॥

अपने मुख से स्वयम् का, किया गया गुणगान।
व्यक्त करे उस व्यक्ति में, सबल अहम् विदमान॥०६३९॥

चाहें निज अधिकार, लें, पर अन्यों का छीन।
उनको रखे समाज भी, परे, समझ अति-हीन[४]॥०६४०॥

उत्तेजक मन हेतु हैं, सबल बने अभिमान।
तृप्ति न, पाकर भी मिले, सो यशेष[५], तज मान[६]॥०६४१॥

रहे अहम् के मूल में, लोकेषा की बाढ़।
सो सेवारत हो घटे, बने नम्र उस ठाढ़॥०६४२॥

निज करनी पर मोद में, मत्त रहे हंकार।
है पर[७] जीवन श्रेष्ठ का, करना परहित, सार॥०६४३॥

मैं भी हूँ कुछ स्वयम् का, गर्वीला हंकार।
तजना! गौरवहीन ही, न तु यह रखे विकार॥०६४४॥

उसे कुचल दे दम्भ से, जीत नहीं यह हार।
सबल सफल वह, बन जये, रिपु को, प्रेम-उदार॥०६४५॥

---

१. बिन-धीर-अनम्र, अविनीत; २. सुचार-सदाचार, सुन्दरता; ३. भ्रन्स- पतन, ह्रास; ४. अति-हीन-नीच; ५. यशेष-यश+एषा; ६. मान-अभिमान; ७. पर-परन्तु।

शास्त्र सन्त सत्संग दें, पुण्य ज्ञान उत्थान।
टिकने अन्तः में न दे, पर, मति का अभिमान॥०६४६॥

नहिं प्रवञ्चना[१] ऐंठ की, दिखा, त्याग निज दोष।
चल रख सरल स्वभाव, पा, जीवन सफल सतोष॥०६४७॥

दिपे ईश सर्वत्र, हो, अहम्भाव जब नास।
तब टिक उस पर ही रहें, बुद्धि सोच विश्वास॥०६४८॥

कारण जितना भी रहे, हो नहिं क्रोधाधीन।
हानि न दे बाधा जये, ऐस कर्म-शालीन॥०६४९॥

क्रोध आग है क्रोध की, कलह जनमती कोख।
हो अघमय तब बुद्धि ले, सद्जीवन रस सोख॥०६५०॥

क्षण को भी यदि रोक लें, उठी क्रोध की ज्वाल।
जीवन भर के बच सकें, अनुशय से तत्काल॥०६५१॥

रिस[२] जिसके पीछे पड़े, करके छोड़े नास।
सो सीखें मन साधना, सबसे प्रेम समास॥०६५२॥

अन्यों के उत्थान की, झुलसाये जब आग।
निन्दा करता नीच का, तब बड़बोला राग॥०६५३॥

ईर्ष्या का ही दूसरा, असफलता है नाम।
क्योंकि विफलता ही करे, ईर्ष्य-जनन का काम॥०६५४॥

सेवा पापी की नसे, अपने सद्-आचार।
सजग! चित्त से धर्म को, पर दे ईर्ष्य बुहार॥०६५५॥

मोह-वशी हो जो करे, बुरे कर्म अपकार।
उनके वह फल-वाम से, प्राण गँवाता हार॥०६५६॥

---

१. प्रवञ्चना-धूर्तता; २. रिस-क्रोध, कोप।

सबमें निज कर्तव्य का, रहे ज्ञान विदमान।
पर नहिं ममता कामना, होने दें यह ध्यान॥०६५७॥

लोभ मोह हंकार के, नाचे पा संकेत।
तब लिप्साओं के फँसे, दल-दल में नर-चेत॥०६५८॥

अपना सके उदारता, नर को दुष्कर काम।
लोभ मोह पर जीतना, है उससे भी वाम[१]॥०६५९॥

लोभ न होने दे कभी, आवश्यक को प्राप।
दुरुपयोग कर प्राप का, वरन् बने अभिशाप॥०६६०॥

टूट पड़ी लख चासनी, माखी पाती काल।
मिटे द्वार तस लोभ के, चहे लाभ तत्काल॥०६६१॥

क्रोध हटे फिर भी रहे, चित में लोभ विकार।
आत्मा में होने न दे, सो वह शुचि साकार॥०६६२॥

स्वार्थ-सिद्धि की लाल से, नसें स्नेह सौजन्य।
बढ़ें घिनौनी वृत्तियाँ, बनते कर्म अधन्य[२]॥०६६३॥

उद्धत हो हंकार से, लालच से हो सूर[३]।
हरण करे पर-स्वत्व[४] का, तब मन बन खल क्रूर॥०६६४॥

हो अतिशयता पाप की, जहाँ लोभ का वास।
क्योंकि अधोगति दे करे, आत्मा का यह नास॥०६६५॥

जितन घटाये जा सकें, लोभ मोह हंकार।
मान बढ़े उतना करे, जग उसको स्वीकार॥०६६६॥

किसी किसी का कर भला, कुछ का भल हो पाव।
पर असीम का हो भला, तज निज खोटे भाव॥०६६७॥

---

१. वाम-टेढ़ा, कठोर; २. अधन्य-निन्द्य; ३. सूर-अन्धा; ४. स्वत्व-अधिकार।

धन सम्पद् सञ्चय नहीं, नहिं अति विषयी भोग।
उन्नति करना है, रचे, जो पर हेतु सुयोग॥०६६८॥

जो दें ईर्ष्या द्वेष से, कुण्ठा कुढ़न विवाद।
वे भी गाढ़े कष्ट में, जिएँ मात्र अवसाद॥०६६९॥

हैं तव यश चित-लब्धियाँ, सब समाज अनुदान।
सो उन जन-शुभ में करें, श्रेष्ठ सजन[1] प्रतिदान[2]॥०६७०॥

अपने सुख की चाहना, नश्वर-सुख दे पाव।
पर चिर-सुख चित पा सके, अन को सुख पहुँचाव॥०६७१॥

नर के जाति-विकास में, इक ही खोज विलोल।
उर का संघ-स्वभाव, सो, कर सेवा, अनमोल॥०६७२॥

कर, सेवा से प्राप हो, जीवन नम्र पवित्र।
न तु जग-निन्दा पा रहे, सेवाहीन चरित्र॥०६७३॥

सेवा में निस्स्वार्थता, निहित नम्रता त्याग।
पर श्रद्धा बिन क्लेशदा, कुटिल दिखाव अलाग[3]॥०६७४॥

रच सेवक की भूमिका, हटा हृदय पाषाण।
तब रह जग में त्राण हो, पाव आत्म-कल्याण॥०६७५॥

आये जो अनुभूति में, सेवा सत्-सुख बाट।
लिखे मनुजता हेतु में, अस नर स्वयम् ललाट[4]॥०६७६॥

श्रेष्ठ न धन से हो सके, वरन् बने कंगाल।
वही वस्तुतः श्रेष्ठ है, जो है श्रेष्ठ कृपाल॥०६७७॥

समुदायी सहयोग ही, सर्व प्रगति का द्वार।
सो तन मन निज आत्म से, जग के बनें सहार॥०६७८॥

---

१. सजन-सज्जन; २. प्रतिदान-प्रत्युत कुछ देना; ३. अलाग-प्रेम रहितता; ४. ललाट-भाग्य।

मित्र नहीं पर दे उसे, माँगे, धन सहयोग।
सब अनर्थ उससे रहें, दूर, बनें निज लोग॥०६७९॥

इच्छा अन से त्याग की, स्वयम् चाहता भोग।
कलह परस्पर को जने, यह नर मन का रोग॥०६८०॥

बिना दिये बुनते रहें, पाने की अभिलास।
कल्पनाओं में ढूँढते, वे अबोध सम आस॥०६८१॥

करा सके निज काम को, उनसे एक उपाय।
जता काम कितना उनें, जीवन हेतु प्रदाय[1]॥०६८२॥

कतिपय तिन भी एक-हो, बनते शक्ति अपार।
तस सब अर्जन कर सकें, अपनायें सहकार॥०६८३॥

तन छुटने पर पा सके, सद्गति रखना ध्यान।
बरत् प्रेम सहयोग का, सो व्यवहार विधान॥०६८४॥

पिछड़ापन लादे फिरें, कोउ करे नहिं प्यार।
नेह उनें सब भाँति दें, द्वा-सुख यही अधार॥०६८५॥

बने सहायक कष्ट में, सेवी जैस कृषाण[2]।
क्योंकि लक्ष्य अस श्रेष्ठ का, सदा सर्व-कल्याण॥०६८६॥

अकड़ फिरे मैंने किया, उस पर यह आभार[3]।
अस उपकारी को मिले, नहीं किसी का प्यार॥०६८७॥

निहित नहीं उपकार में, होती प्रत्युत आस।
उसके किये विकर्म से, फिर क्यों व्यर्थ उदास॥०६८८॥

जिसने संकट में किया, भुला नहीं उपकार।
रह कृतज्ञ, उसका मिले, आजीवन तब प्यार॥०६८९॥

---

१. प्रदाय-उपहार, देने वाला; २. कृषाण-कृषक; ३. आभार-अहसान, उपकार।

भजन वस्तुतः हीय से, है सेवा का कार्य।
सो नित पर उपकार में, जीना रख अनिवार्य॥०६९०॥

पर-उपकारी, धन्य हैं, दें जो सात्त्विक दान।
किन्तु पूज्य, जिन काज[1] में, सदा सर्व-कल्यान॥०६९१॥

स्वार्थ-साधना भी चले, ईश्वर भी हों प्राप।
जीवन में दोऊ सधें, सम्भव नहीं कदाप[2]॥०६९२॥

थोड़ी ही हैं काम की, बातें या संसार।
चल दे उन पर हो सके, तब अघ का भव पार॥०६९३॥

गुण बखानना और का, निज अ-स्वार्थ बरताव।
दुर्गुण निश्चित दें घटा, सज्जन बनें[3] स्वभाव॥०६९४॥

मिन्त बढ़ें बैरी घटें, रख जीवन की नीति।
सो मैं तज, उर प्रीत से, हट दे सब निज ईति[4]॥०६९५॥

जिए न स्वार्थावेश को, रखे विनय का भाव।
उस मति शान्त स्वभाव से, उज्ज्वल पग धर पाव॥०६९६॥

रुचि, सेवा परमार्थ की, हृदय गयी जिस जाग।
आत्म्-शुद्धि हो स्वयम् ही, हटें स्वार्थ षड्राग॥०६९७॥

कारण तज दें द्वेष के, रखें मित्रवत् धर्म।
शुद्ध प्रेम ही भोगता, क्योंकि शान्ति सुख सर्म[5]॥०६९८॥

जो मन कर्म अहिन्स हो, राग द्वेष ले जीत।
पर-सेवा, निष्काम से, करती उसकी प्रीत॥०६९९॥

अनुभव ले नित-कर्म से, करें चित्त संस्कार[6]।
वही धन्यता की चढ़ें, सीढ़ी अहम् बिसार॥०७००॥

---

१. काज-प्रयोजन; २. कदाप-कदापि, कभी भी; ३. बनें-बनाते हैं; ४. ईति-कलह, बाधा; ५. सर्म-स्वर्ग; ६. संस्कार-परिष्कार।

तृष्णा नहिं, सुख तोष

हरित मेह-ऋतु, जेठ में, होता टिड्डा पीत।
तस परिवेश-प्रभाव दे, निज अपजय या जीत॥०७०१॥

भिन्न भोग अरु धर्म के, अपने अपने पाथ।
इक उद्देश्य न पा सके, इक पावे शुभ-साथ॥०७०२॥

पापी होतीं आदतें, इषणें लाल विचार।
है नहिं नर न तु जन्मना[१], अबल अभल अनुदार॥०७०३॥

जीकर तृष्णा वासना, लक्ष्य स्वार्थ-संकीर्ण।
अति का गर्हित व्यक्ति ही, होता है अवतीर्ण॥०७०४॥

सोच-वृत्ति जब शैलियाँ, मुद हों, कर[२] व्यभिचार।
समझें तब, पाने लगे, कलियुग अथ विस्तार॥०७०५॥

तृषा अहन्ता ने कसे, जिस चित पर निज बन्ध।
जग छल खल व्यापार की, उसे सुहाती गन्ध॥०७०६॥

तप, पालन कर्त्तव्य का, सुख, है में सन्तोष।
तृषा व्याधि, पर वस्तुतः, करुणा, उरस् अशोष॥०७०७॥

दोषों को ढोये फिरे, अनगिन करे कुकर्म।
फिर भी तृष्णा का भरे, पेट, न पावे शर्म[३]॥०७०८॥

आवश्यक सुरसा करें, बढ़ें, समस्या साथ।
बुद्धि-विधायी[४] भौंथरी, बने, अशान्ति अकाथ[५]॥०७०९॥

तृष्णाएँ जितनी रहें, अंकुश[६] के आधीन।
पालन में कर्त्तव्य के, मन उतना हो लीन॥०७१०॥

---

१. जन्मना-जन्म से; २. कर-करके; ३. शर्म-सुख; ४. विधायी-सकारात्मक; ५. अकाथ-अकथनीय; ६. अंकुश-नियन्त्रण।

तृष्णा इच्छा वासना, त्याग कामना तात।
मन रख विभु को ही, थमे, तब जनि-मर[१] अर्थात्॥०७११॥

करना, मन-थिर हो सके, वह सब रक्ष उपाय।
प्राण-वायु थिर हो, बने, तब साहस बल दाय[२]॥०७१२॥

एक सिद्ध हो, कामना, बड़ी सिद्धि की होय।
उन्नति अवनति दें यही, एक पन्थ रुचि दोय[३]॥०७१३॥

स्वार्थ-बुद्धि की प्रेरणा, रखती जो अभिलास।
कर न सके वह सर्वथा, सम्यक् श्रेष्ठ विकास॥०७१४॥

योग्य प्रशन्सा के नहीं, तभी रखें हम चाह।
चाह-रहित है अन्यथा, सदा योग्य-उत्साह॥०७१५॥

संसारी सुख पाव की, रहती वृत्ति प्रचण्ड।
नहीं चतुर भी पा सके, तब शुभ शान्ति अखण्ड॥०७१६॥

इच्छा लेने की रखे, है तब नर वह दास।
स्वामी होता जो रखे, देने की अभिलास॥०७१७॥

वाञ्छा बुरी, कुकृत्य का, सो रख दिन-भर त्याग।
किए रात-भर जाप से, अधिक श्रेष्ठ है, जाग!॥०७१८॥

द्रव्य आदि जो चाहता, सुविधा यश सम्मान।
कर न किसी का भी सके, वह कदापि कल्यान॥०७१९॥

कभी त्यागनी ही पड़ें, संसारी अभिलास।
तजने में सो शीघ्रता, रखना, न तु दें ह्रास॥०७२०॥

रहे कर्म में बुद्धि का, एक गोप्य मनृतव्य।
सजग! सजनता दुष्टता, यही गढ़े भवितव्य॥०७२१॥

---

१. जनि-मर-जन्म-मरण; २. दाय-दायक, देने वाली; ३. दोय-दोनों।

सद्इच्छाएँ पूर्ण हों, भरसक करें प्रयास।
छिपा क्योंकि सुख-स्रोत है, इसमें आत्म-विकास॥०७२२॥

क्यों रखता सुख लालसा, अपनी भी नहिं काय।
समझ! यतन सुख पाव का, मात्र पतन दे पाय॥०७२३॥

रह दुर्व्यसनी लालची, बहु-व्यय संयमहीन।
जीवन मात्र अभाग्य का, बनता कर्म-मलीन[१]॥०७२४॥

जो मन में, अस्तित्व है, उसका ही विदमान।
षड्रिपु इन्द्रिय लाल को, सो कर वहिष्[२], नसान॥०७२५॥

लालसाओं में लिप्त हो, निभें न उच्च विचार।
सो चुन सजग विवेक से, शुभ-जीवन आधार॥०७२६॥

श्रेष्ठ और से स्वयम् को, कहलाने की चाह।
तजें, अबलता है, करें, मात्र श्रेष्ठ निर्वाह॥०७२७॥

मूल हेतु है कामना, जने असाधु विचार।
सो तज, कर्तव्यों तईं, कर अविरत अभिहार[३]॥०७२८॥

प्रकट कामना हो, करे, जग के सम्मुख[४] ध्यान।
तब स्व-रूप कर्तव्य के, विमुख[५] बने सज्ञान॥०७२९॥

भरे पाप मन में, जले, कामनाओं की ज्वाल।
जीवन असफल ही रहे, निश्चित अस चिर-काल॥०७३०॥

कामनाओं के त्याग से, सदा मिले सुख शान्ति।
ईर्ष्या अहम् ममत्व में, न तु विचरे मन-भ्रान्ति॥०७३१॥

मन की हो, यह भावना, घृणित कामना होय।
त्यागे बिन जिसके नहीं, सुखी हो सके कोय॥०७३२॥

---

१. मलीन-पापी; २. बहिष्-बाहरी; ३. अभिहार-प्रयत्न; ४. सम्मुख-की ओर प्रवृत्त; ५. विमुख-प्रतिकूल।

मन-मुखि[1] घातक निर्दयी, हिन्सक क्रूर अपार।
पर संयम पा इन्द्रियाँ, करतीं पर-उपकार॥०७३३॥

क्रोध वस्तुतः काम का, होता विकसित रूप।
प्रथम जयें सो काम को, रहे क्रोध जो चूप॥०७३४॥

दम करने को काम का, करना सभी उपाय।
तब चित सुगुण प्रवेश से, शक्ति शान्ति सुख पाय॥०७३५॥

मान कीर्ति धन कामना, विषय-भोग तन-चैन।
चित-गौरव पाने न दें, बनें विघ्न दिन-रैन॥०७३६॥

बनता नाता भोग में, जड़-पदार्थ से मात्र।
तब सुख-समझ पदार्थ में, बने मनुज दुख-पात्र॥०७३७॥

रखना सुख की कामना, अभिलाषाएँ भोग।
सकल दुखों की मूल हैं, भूले फिर भी लोग॥०७३८॥

इन्द्रिय भोग, पदार्थ की, पूजा, धन, अधिकार।
सुख-भ्रम दुख दे वेदना, पशुता भरें अपार॥०७३९॥

रखे मदारी, बन्दरा, जस निज हाथ अधीन।
पर-काया के रूप[2] में, हो तस मूर्ख विलीन[3]॥०७४०॥

दुख जन्मे, अस कर्म जो, दे सुख-भरी मिठास।
अन्तः-मुद न तु पा सका, को[4], पा भोग विलास॥०७४१॥

भोग विषय में तृप्ति को, मान, रहें संलिप्त।
आत्म-सत्य माधुर्य से, रहते रहित अतृप्त॥०७४२॥

हो, पड़ तन के भोग में, बढ़ता पग भयभीत।
ऊँचे लक्ष्यों का उसे, न मिले नन्द, न जीत॥०७४३॥

---

१. मन-मुखि-स्वच्छन्दता, इच्छानुसार करने वाला; २. रूप-सौन्दर्य;
३. विलीन-सम्बद्ध; ४. को-कौन।

तनि भी मति विषयी रहे, करे न विभु अनुभूति।
दीप-सलाई भीगते, जस बिसरे ज्वल जूति[१]॥०७४४॥

जो सुदक्ष हय हों नहीं, सारथि को दें मार।
तस अनियन्त्रित इन्द्रियाँ, करें मनुज संहार॥०७४५॥

रम विषयों में इन्द्रियाँ, हों जब अंकुशहीन।
तिरस्कार संसार का, कर, लें तब सुख छीन॥०७४६॥

निरत परख अन्तः, रखें, तब उस शोध सुधार।
द्रुत गति से तब पा सकें, चित-शम भौत-पसार[२]॥०७४७॥

भोग, दमन उस भोग का, अति हैं दोउ विचार।
सहज त्याग पर दोउ का, संयम से, सो धार॥०७४८॥

पातन हैं, तज मोहने, जग के सब प्रस्ताव।
जो जीवन सर्वोच्च दें, सो पा[३] वही स्वभाव॥०७४९॥

मिटना मन संसार-का[४], मांनो है वरदान।
पर तन-मिटना ज्यों लिया, पहिन नया परिधान॥०७५०॥

नहीं भोगकर, देख तो, दर्शक बनकर लाभ।
दृश्य-दशा तब स्वयम् दे, सत्य-ज्ञान की आभ॥०७५१॥

तज रे! करना पाप का, आलस विषय[५] प्रमाद।
क्योंकि गढ़ें अवसाय[६] का, सजग! यही प्रासाद॥०७५२॥

उदासीन हो लिप्तता, जबकि, भोग स्वाधीन।
निश्चित ही वह त्याग की, सहज-मूर्ति सत्-लीन॥०७५३॥

हैं सस्ते की, लाभ की, बात, ठगी का खेल।
अतः धूर्त प्रस्ताव से, रखें दूर का मेल॥०७५४॥

---

१. जूति-प्रवृत्ति; २. पसार-विस्तार; ३. पा-प्राप्त कर; ४. संसार का-संसार से बना हुआ; ५. विषय-इन्द्रियजन्य सुख; ६. अवसाय-नाश।

दुरुपयोग में पाप है, नहीं भोग में पाप।
सो आवश्यक भोगना, तज अति, अति अभिशाप॥०७५५॥

विषयों भरी धरित्र में, करता सुपथ चुनाव।
ज्ञान नहीं आचार से, दे वह सरल सुझाव॥०७५६॥

मन अनियन्त्रित ज्यों रहे, जगे लोक सुख-स्वार्थ।
सो कर सूर[१] विवेक को, करे क्रूर अयथार्थ॥०७५७॥

बहुचितता दे कर्म में, मात्र अफलता हान।
एकित[२] हों निज-शक्तियाँ, सो कर, बन इक-ध्यान[३]॥०७५८॥

बूढ़ों की सेवा करे, बुद्धि ज्ञान निस्सीम।
पूर्ण करे, पर-एष को, पर मन-साधक भीम॥०७५९॥

मन-थिर कर्मों में रहे, सो करना अभ्यास।
मन-थिरता में ही करे, क्योंकि सफलता वास॥०७६०॥

मन मनमाना हो, सुनें, तब इक साँची बात।
अपनों से ही बर्तता, नित प्रपञ्च छल घात॥०७६१॥

आवश्यक अनिवार्य है, जीवन हेतु विनोद।
पर कुपथी-मन जो बने[४], तज वह भ्रष्ट प्रमोद॥०७६२॥

सुरुचि लगन श्रम से करे, वशीभूत-मन, काम।
पर उद्धत उद्दाम हो, दे अरि सम परिणाम॥०७६३॥

सन्तत आत्म-निहार से, करना आत्म-सुधार।
पा तब सके अभीष्ट को[५], जीवन भर परिहार॥०७६४॥

बहुधा मन से हैं जुड़े, अन-सुलझे जग-प्रश्न।
सो सुधार मन, व्यर्थ हैं, सभी बाहरी यत्न॥०७६५॥

---

१. सूर-अन्धा; २. एकित-संगठित; ३. इक-ध्यान-एकाग्रचित्त;
४. बने -बनाता है; ५. को-के लिये।

दमन विषयी-मन का, करें, दया दान अभ्यास।
सहें विपद् सम-भाव से, तब 'जी' जिए सहास॥०७६६॥

मन कर में लें, चाल में, भर लें सुगुणाचार।
कर्म-शक्ति जो नन्द दे, पा तब सकें अपार॥०७६७॥

करते दिव्यानन्द का, उत्कर्षण सद्कर्म।
इन्द्रिय निग्रह से निभा, सो नित मानव-धर्म॥०७६८॥

धँस दल-दल में पा सका, कभी न कोऊ ठाँव।
तस पदार्थ आसक्ति में, फँस नहिं उबरें पाँव॥०७६९॥

जगत् सक्ति संलिप्तता, उस चिन्तन है भोग।
पर जोड़े जग-सत्य से, जो चिन्तन, वह योग॥०७७०॥

क़भी किसी को दे नहीं, स्वयम् कष्ट संसार।
दुख, नर का उससे बना, वरन् गहन दे प्यार॥०७७१॥

जस दुख देती है सदा, नर को जल की प्यास।
जग नहिं जग-आसक्ति दे, तस विषाद दुख त्रास॥०७७२॥

संग्रह जगती-भोग में, ज्यों ज्यों बढ़ती सक्ति।
त्यों त्यों बढ़े समाज में, कलह अधर्म अव्यक्ति[१]॥०७७३॥

विषय-भोग में चित्त की, सक्ति, अनय कर नष्ट।
यथा-इष्ट कर जो न हो, धर्म अर्थ से भ्रष्ट॥०७७४॥

पागल अन्धी हो गयी, अर्थ दृष्टि जो, त्याग!।
हट सकतीं तब सक्तियाँ, बहुरूपी अनुराग॥०७७५॥

रखना सक्ति अनात्म में, कारण बन दे शोक।
सो कर्तव्य, अलिप्त हो, कर, पा चिर सुख-लोक॥०७७६॥

---

१. अव्यक्ति-अनिश्चितता।

राग द्वेष की तीव्रता, अनासक्ति ले चाट।
विकसे तब फल रूप में, समता भाव विराट्॥०७७७॥

मेरा कुछ नहिं, चाहिये, न कुछ मुझे अधिकार।
थित धी पर-हित में रहे, पाव आत्म-उद्धार॥०७७८॥

उतना घर संसार से, रख लगाव रे ठोट[1]।
उनसे हुआ वियोग दे, जो उर को नहिं चोट॥०७७९॥

सर्वसुलभ लघु-मोल का, सर्वोचित कर भोग।
सक्ति[2] वासना से रखे, न तु चित नित संयोग॥०७८०॥

सरल गँवाना सम्पदा, दुर्व्यसनों को पाल।
कठिन पड़े पर काटना, फिर जीवन कंगाल॥०७८१॥

जीवन रस को चूँस लें, तृषा वासना लाल।
तब जग जीवन द्वा लगें, सारहीन उत्ताल[3]॥०७८२॥

देती बढ़ी विलासिता, कायर चित्त कुचाल।
प्रबल-स्वार्थ उर-संकुचा, तज सो सुरसा लाल॥०७८३॥

चित में जब लौं वस्तु का, अंकित रहे महत्त्व।
त्याग सकें नहिं, चित्त में, क्योंकि रखे वह सत्त्व॥०७८४॥

अपर तोष पावे, करे, अघ-निज, चित स्वीकार।
तब कठोर अपने लिये, अन-प्रति बने उदार॥०७८५॥

पाकर सुख-दुख आदि को, रहें शान्त सन्तुष्ट।
जीवन-हित न तु कर सकें, कर्म एक नहिं सुष्ट॥०७८६॥

सुख शम प्रेम पवित्रता, है भी जग में तोष।
पर पाते, उन युक्त जो, विकसें निज गुण-कोष॥०७८७॥

---

१. ठोट-मूर्ख; २. सक्ति-आसक्ति; ३. उत्ताल-कठिन, भयंकर।

रुग्ण अकिञ्चन हेय को, जो दे प्यार दुलार।
धन्य वही जीता सदा, आत्मिक तोष अपार॥०७८८॥

रत कर्तव्यों में रहे, हो पर-हिती उदार।
वह जगती पर-लोक में, रहता तृप्त अझार॥०७८९॥

तोष अवनि सा, झील सा, विमल, अडिग जस खम्भ।
जग बन्धन नहिं, मुक्ति का, थल समझे, अस अम्भ[१]॥०७९०॥

हेतु जुड़ा जब लौं रहे, रहे वस्तु में राग।
शक्य त्याग यदि है किया, इच्छा का मन-त्याग॥०७९१॥

भटक न तृष्णा में कहीं, अपनी दृष्टि सुधार।
तृप्ति हेतु तब पा सके, यत्न ठौर सद् वार[२]॥०७९२॥

बान बुरी, यदि वर्ष में, इक, दे सजड़ उखाड़।
बन इक दिन खल भी सके, भला लोकहित-बाड़॥०७९३॥

भोग लिप्तता त्याग दे, वरण करे पुरुषार्थ।
बुद्धि धर्म में हो बनें, उसके पग सिद्धार्थ[३]॥०७९४॥

आवश्यकता मूल है, जीना सद् आचार।
सो निज कर्म-विवेचना[४], कर, कर आत्म-सुधार॥०७९५॥

विभु-मय चिन्तन, साधुता, धरें, रोक विक्षेप[५]।
उसी समय धुलने लगे, चढ़ा मनस् मल-लेप॥०७९६॥

अपने अन्तः को लगे, प्रिय जब अपना चित्त।
सबको प्रिय लगता भला, तब वह, भले अवित्त[६]॥०७९७॥

उलट विघातक पन्नता[७], दे आमूल सुधार।
सुगुण पुञ्ज अगुआ वही, बनता युग अवतार॥०७९८॥

---

१. अम्भ-मनुष्य; २. वार-अवसर; ३. सिद्धार्थ-लक्ष्य तक ले जाने वाला; ४. कर्म-विवेचना-समालोचना; ५. विक्षेप-चित चञ्चलता; ६. अवित्त-अप्रसिद्ध; ७. पन्नता-अधोगमन, पतन।

विकसे अन्तः-दृष्टि

श्रेष्ठ विचारों से घिरा, लक्ष्यों प्रति एकाग्र।
एकक नहिं, विभु में रमा, है वह वरन् विषाग्र[१]॥०७९९॥

नेत्रों को ढकता, ढके, नहीं सूर को अब्द[२]।
मन-मल से तस बुद्धि हो, आवृत, कभी न शब्द[३]॥०८००॥

तप है थिति प्रत्येक में, प्रगति श्रेष्ठता मूल।
स्वावलम्ब सँग शान्ति दे, मन सरसे अस्थूल[४]॥०८०१॥

'ही-कट्टर' है, जो कहे, मात्र यही है सत्य।
सत्-निर्णय से पूर्व सो, 'भी' के लख सब तथ्य॥०८०२॥

दृष्टिकोण, शुभ देखता, करता शुभ ही काम।
वह मंगल आनन्द में, पल पल रखे विराम॥०८०३॥

रखता नित मन-शक्तियाँ, निज सज्ज्ञान सँभाल।
कभी जरा उस व्यक्ति को, कर नहिं सके निढाल[५]॥०८०४॥

सोच नहीं नीचा कभी, लख अम्बर की ओर।
सजग! नकारी पन्थ दें, पर जीवन को सोर[६]॥०८०५॥

जीवन भर होतीं सखे, भूलें चेत अचेत।
पर भूलें स्वीकार ले, वही दिव्य नर-केत[७]॥०८०६॥

मानें जानें या कहें, भद्र भले नहिं, लोग।
चित पर, नीके भाव का, जीता मुदित सुयोग॥०८०७॥

हो नहिं निज कल्याण को, खड़ा, करें क्या और।
सो मन-थिति अनुकूल ही, पाता नर जग-ठौर॥०८०८॥

---

१. विषाग्र-बुद्धि में अग्रणी, कुशाग्र; २. अब्द-बादल; ३. शब्द-परमात्मा; ४. अस्थूल-सूक्ष्म; ५. निढाल-खिन्न, दुखी; ६. सोर-निर्मम क्रूर गीत; ७. केत-बुद्धि।

दुरुपयोग हों शक्तियाँ, मरे मनुज कर्तव्य।
जगत् हेतु तब मन बने, मात्र जघ्नु[१] अति सव्य[२]॥०८०९॥

मात्र बुद्धि-व्यापार से, जने दृष्टि संकीर्ण।
जो कर्मों को ढालती, मनुज-धर्म बिन, शीर्ण[३]॥०८१०॥

हैं सहयोगी शक्तियाँ, नर में सब विदमान।
अत: कर सके स्वयम् का, हो स्वाश्रित उत्थान॥०८११॥

नीक उपायों से किया, रहकर पूर्ण सचेत।
विफल हुआ फिर भी, करे, नहिं तब शोक सुकेत[४]॥०८१२॥

जिए अन्ध-विश्वास में, लखे न क्या प्रत्यक्ष।
अस सुपथी भी भ्रान्त हो, होता भटक, विलक्ष॥०८१३॥

निश्चय नहिं पथ का किया, बढ़ा दिये पग पार[५]।
तब नर भटकन में फिरे, खाता ठोकर, मार[६]॥०८१४॥

सम्पद् नहिं सद्बुद्धि है, पुण्यों का परिणाम।
विधनत से नहिं, पाप से, हो धी कुत्सित क्षाम॥०८१५॥

धी की सुन मन-इन्द्रियाँ, चलें, मिले उत्थान।
चल व्यतिक्रम इसके मिले, पर दुख पतन नसान॥०८१६॥

असामान्य रखना नहीं, अन्त: का परिवेश।
शत भल थिति भी बाहरी, मिट[७] न सकें न तु क्लेश॥०८१७॥

कारण दारुण कर्म का, मात्र मनुज अज्ञान।
सर्व-दुखों से छूटना, सो बन प्रज्ञावान्॥०८१८॥

हटे न विषय-प्रसंग से, थिति लख करता क्रोध।
प्रिय स्वभाव रखता, रहे, वह चातुर मति-योध[८]॥०८१९॥

---

१. जघ्नु-हननकर्ता; २. सव्य-प्रतिकूल; ३. शीर्ण-कृश, कमजोर; ४. सुकेत-श्रेष्ठ बुद्धि वाला; ५. पार-दूर; ६. मार-कष्ट; ७. मिट-मिटाना; ८. योध-योद्धा, बली।

दीपित भी हैं अन्ध भी, मनुज चलन में रीति।
पर अपना, धी तर्क से, कस, जब बनें प्रतीति[१]॥०८२०॥

करुणा, अरुचि कुकर्म से, मनुज जन्म से पाव।
पर दुर्मति सुख स्वार्थ में, बरते धूर्त उपाव॥०८२१॥

अन्यों का मन से करें, मन पढ़ने का यास।
निज प्रतिभाओं का करे, यह क्रम उच्च विकास॥०८२२॥

भेद-बुद्धि अभिमान का, जने प्रसंग, विकार।
समझ! न दोषी बाहरी, सो थिति पर-व्यवहार॥०८२३॥

बल जब लगे प्रमाद में, नरक भोगते प्राण।
सद्-लक्ष्यों की पूर्ति में, पर लग दे कल्याण॥०८२४॥

तिरस्कार-निज, भावना, रखना निज-प्रति दीन।
उचित नहीं, सद्-बुद्धि से, बन, कर कर्म, प्रवीन॥०८२५॥

बुद्धि-हीनता अज्ञता, दें चिन्ता भय शोक।
हट पर निज चेष्टा सके, मनस् चढ़े ये मोक[२]॥०८२६॥

कर्म, लगन बिन धीरता, करना एकाएक।
द्योतक, उस पल बद्धि है, नहीं सन्तुलित छेक[३]॥०८२७॥

सम्वर्धित धी शक्ति हो, जितना हो उपयोग।
विद्याओं से जो बचें, मन्द रहें वे लोग॥०८२८॥

भले स्वर्ग हो, स्वार्थियों, मतिहीनों का वास।
दुर्गति को ही पा रहें, आपस में बन गास॥०८२९॥

श्रेष्ठ साथ नहिं पा सके, तब अच्छा एकान्त।
किन्तु मूर्ख की सर्वदा, संगति दुखद नितान्त॥०८३०॥

---

१. प्रतीति-विश्वास; २. मोक-केंचुल; ३. छेक-नागर, चतुर।

करें न तुलना मूर्ख से, निज, दे रोक विकास।
वरन् गहें धीमान की, सोचादर्श प्रयास॥०८३१॥

निज चित जिसके चित्त से, मिले केत से केत।
समझें निभ उनमें सकें, गोप्य, मित्रता, हेत[१]॥०८३२॥

जब भी उलझन में रहे, बुद्धिमान नर-मौन[२]।
तब निज पर कल्याण के, खोजे पथ, रख हौन[३]॥०८३३॥

रखे बुद्धि सम्वेदना, यदि नित अपने साथ।
हो उपयोगी सरजनी, तब निज हटा प्रमाथ[४]॥०८३४॥

सद् पर टिकना बुद्धि का, है श्रद्धा का भाव।
जीवन पा बल प्रेरणा, जिससे पाव उठाव[५]॥०८३५॥

करता रहे अस्वार्थ हो, शुद्ध बुद्धि से काम।
यज्ञ यथोचित है यही, सुलभ करे सत्-धाम॥०८३६॥

जीवन पिछलागा रखें, उनें चतुर लें लील।
सो रख पग निज ज्ञान के, न तु हो दीन कुचील[६]॥०८३७॥

है नहिं घटना तथ्य का, मात्र जानना ज्ञान।
वरन् ज्ञान इनमें छिपी, सत्य समझ का भान॥०८३८॥

होती उच्च-अभिज्ञता, मित्रों के से हाथ।
संस्कार-शुभ चित्त में, पा, माँ-पितु ज्यों साथ॥०८३९॥

पहुँचा सके मनुष्य को, धरती से आकाश।
मात्र सन्निहित ज्ञान में, वह चिर परम प्रकाश॥०८४०॥

ज्ञान और विद्या करें, ऐसा मार्ग प्रदान।
सुर से भी नर अधि बने, पा मनुजत्व, महान॥०८४१॥

---

१. हेत-प्रेम; २. मौन-शान्त; ३. हौन-अपनापन; ४. प्रमाथ-उत्पीड़न;
५. उठाव-ऊँचाई; ६. कुचील-मैला।

बना संयमी दे, करे, आभूषण का काम।
विद्वतता वह कोष, है, जिसमें सुख विश्राम॥०८४२॥

निर्णय क्षमता पा सकें, जिससे बुद्धि विवेक।
ज्ञान सार्थ वह, कर्म को, जो दे व्रत बिन-रेक॥०८४३॥

निष्फल रहती साधना, हो नहिं पाती चेत।
भाव कर्म तो उर्मि हैं, यदि नहिं ज्ञान समेत[1]॥०८४४॥

सदुपयोग कर प्रज्ञ ही, ले पाते आह्लाद।
न तु वैभव बहुधा जने, छल दुर्गुण उन्माद॥०८४५॥

सुलझाये सब उलझनें, दूर करे सन्ताप।
करें स्वपाठ सुसंग से, विविध ज्ञान सो प्राप॥०८४६॥

धैर्य प्रेरणा दे, करे, अन्यों का कल्यान।
घण्टों भाषण से भला, पल का वह आख्यान॥०८४७॥

सञ्चय करने योग्य है, सबके शुभ का ज्ञान।
धन-हित, पर हा! दे खपा, जीवन नर-अभिमान॥०८४८॥

नर को जग उलझा रखे, मुक्त करे पर ज्ञान।
सजग! नरक पर ज्ञान का, दे जाता अभिमान॥०८४९॥

ज्ञान क्रमिक सम्बद्ध ही, गढ़ सकता विद्वान।
न तु भ्रम ऊब थकान दे, बँटा अधूरा ज्ञान॥०८५०॥

जग द्रव्यों को पा, बड़ा, लिया स्वयम् को मान।
पर यह, चित में नीचता, सजग! भरे अज्ञान॥०८५१॥

विषयों की गम्भीरता, लख झिझकें विद्वान।
बढ़ चढ़ उन पर भी बके, समझें, वह अज्ञान[2]॥०८५२॥

---

१. समेत-संयुक्त; २. अज्ञान-मूर्ख।

जाने नहिं, पर मानता, सब कुछ उसको ज्ञात।
सिखा सके उस मूढ़ को, कोउ न कुछ अर्थात्॥०८५३॥

कारण दारिद पाप का, है सदैव अज्ञान।
घृणा किए बिन सो रहें, उन प्रति दया-निधान॥०८५४॥

अनल बुझे जल, ज्ञान से, तस मन-दुख हों शान्त।
तन के भी दुख शान्त हों, मनस् शान्ति उपरान्त॥०८५५॥

भुजग केंचुली फेंकता, जैसे स्वयम् उतार।
सभी मोह, निज-बोध को[१], तज दें उसी प्रकार॥०८५६॥

अजय अनादर दैन्य का, चंगुल में ले शीत।
दे तब ज्ञान, विवेक की, उष्मा ही बल मीत॥०८५७॥

ज्ञान नेत्र तीजा, करे, सर्वापद् का अन्त।
ज्ञान दान सबसे बड़ी, जन-सेवा सो कन्त[२]!॥०८५८॥

जो इन्द्रिय आवेग को, शान्त कर सके ज्ञान।
वही सत्य है दे सके, समझ! सर्व-कल्यान॥०८५९॥

अन्त:-प्रेरण को जगे[३], तर्क विवेक नवीन।
साथ सन्त सद्-ज्ञान का, उर का हटे[४] मलीन[५]॥०८६०॥

न हो तर्क जिस ज्ञान में, बने न मन का भाग।
पाती क्योंकि प्रमाण से, कोऊ सीख[६] सुहाग[७]॥०८६१॥

तर्कशीलता धीरता, क्षमा, भले धनवान्[८]।
मात्र रहे पर विज्ञ में, शब्द-ज्ञान युयुधान[९]॥०८६२॥

हो तन-मन-श्रम योग से, नव जीवन सञ्चार।
सृजक सन्तुलित सोच, दे, पर मन-दिशा सँवार॥०८६३॥

---

१. को-के लिये; २. कन्त-प्रियवर; ३. जगे-जगाता है; ४. हटे-हटाता है; ५. मलीन-पाप, क्षुद्रता; ६. सीख-शिक्षा, सलाह; ७. सुहाग-सौभाग्य; ८. धनवान्-प्रचुरता में होना; ९. युयुधान-योद्धा।

गढ़ें निपुण सामर्थ्य के, बहु जीवन-कर्तव्य।
सृजक बनें सो, दे सकें, जो निवार, विधि द्रव्य॥०८६४॥

काम करें, जब सोच लें, आ सकतीं क्या बाध।
न तु असफलता पा मिले, दुख अनुताप अगाध॥०८६५॥

निश्चित जो सम्भाव्य है, या है सबसे युक्त।
चलना उस अनुकूल दे, जीवन दुख भय मुक्त॥०८६६॥

अवसर पर व्यवहार में, करे बुद्धि जो न्याय।
पराधीन दुबली नहीं, वह कदापि रह पाय॥०८६७॥

कमल पुष्प नीहार[1] से, ज्यों हो अति छविमान[2]।
त्यों विवेक से बोधनी[3], होती ज्योतिष्मान्[4]॥०८६८॥

भले वैध श्रद्धेय हो, झूठ मान, मत-धार।
पर निज बुद्धि विवेक का, सदा कथित स्वीकार॥०८६९॥

अन्तः परतों में छिपे, दैवी तत्त्व अनेक।
ढाल सके आचार में, उनको मात्र विवेक॥०८७०॥

ग्रन्थ पढ़ें सबकी सुनें, होंगे सब नहिं एक।
सो कर बुद्धि विवेक से, निश्चित पग प्रत्येक॥०८७१॥

कर ले, जगा विवेक को, जो निज स्वयम् सुधार।
है बड़ उसका वस्तुतः, जन-हित में उपकार॥०८७२॥

जो विवेक को मान्य हो, बन उसका ही दास।
न तु भयाव फल दे सके, विगत-मान्य विश्वास॥०८७३॥

निज विवेक से मानना, परख प्रथाएँ रीति।
हरें शक्ति सामर्थ्य को, न तु, भरतीं मन-भीति॥०८७४॥

---

१. नीहार-ओस; २. छविमान-सुन्दर छवि वाला; ३. बोधनी-ज्ञान, समझ; ४. ज्योतिष्मान्-आलोक-युक्त।

निज विवेक की ज्योति में, दिपें प्रकट जो दोस।
सहज मिटाये जा सकें, मन को बिना मसोस[१]॥०८७५॥

सीख सिखावन में रहें, सब सत् असत् मिलाव।
अनुभव[२]! स्वयम् विवेक से, सर्वोत्तम सो पाव॥०८७६॥

अनौचित्य औचित्य का, रखे न शक्ति, विचार।
नहीं वीरता, मात्र है, वह उन्माद-उभार[३]॥०८७७॥

है, दी हाँ, अन्न्याय को, स्वयम् किया अन्न्याय।
सो थिति परख विवेक से, दें मत युक्त-उपाय॥०८७८॥

जग से दुष्ट न दुष्टता, मिट हट सकें, विचार!।
ग्रहण विवेक सहिष्णुता, सो कर, हैं उपचार॥०८७९॥

करें सदा औचित्य में, प्रतिभा का उपयोग।
पाते सभी प्रकार से, मान सुफल वे लोग॥०८८०॥

करे विवेक अतीत के, अनुभव जब उपयोग।
परिष्कार गुण-वृद्धि का, बन तब सके नियोग[४]॥०८८१॥

भोग लिप्ति से दे सके, मुक्ति मात्र वैराग्य।
सम्यक् बोध विवेक से, पर मिल रचे सुभाग्य॥०८८२॥

दृष्टि समत्व विवेक की, दया अहिन्सा न्याय।
सद् चरित्रता कर्म को, देती पवित उपाय॥०८८३॥

सूझ भूत से ले, रचें, दृढ़-भविष्य आधार।
वर्तमान को दे, जिए, शुभ, यह जीवन सार॥०८८४॥

दृष्टिकोण को, सर्वदा, रखना बना पुनीत।
अशुचि, अगुणता दे चले, क्योंकि सदा विपरीत॥०८८५॥

---

१. मसोसना-दबाना; २. अनुभव!-अनुभव कर; ३. उभार-बढ़ा हुआ;
४. नियोग-आशा।

सबमें मत-वैभिन्न्य का, होना अच्छी बात।
चिन्तन इससे श्रेष्ठ हो, जीवन पाव प्रभात॥०८८६॥

स्वयम् भाग्य जिससे लिखे, वह लिपि-चिन्ह विचार।
भाषा होती भाग्य की, सो, जस सोच प्रकार॥०८८७॥

वश में रखी विचारणा, न्यून कर सके राग।
तब परलोक न मुक्ति को, जाना हो जग-त्याग॥०८८८॥

जीवन प्रति जैसा करे, चिन्तन चलन, सुषीम[१]।
जीवन निज वैसी रखे, नर-प्रति श्रद्धा-सीम[२]॥०८८९॥

वाह्य-दशा निज चिन्तना, खातीं नहिं जब मेल।
अडिग बनें! मन डूबता, न तु दुख में बन भेल[३]॥०८९०॥

मान-श्रेष्ठ निज सोच को, जीवन कभी न ढाल।
सबके गुण गह, स्वयम् का, वरन् तभी बन पाल[४]॥०८९१॥

जटिल बहुत भी, पर करे, दिन भर लक्ष्य विहीन।
खपकर भी पाता नहीं, अस कुछ ठोस नवीन॥०८९२॥

हरें सुचिन्तन, कामना, अहम्, सकुच-उर, स्वार्थ।
कर्मों में फिर क्रूरता, बनकर हों चरितार्थ[५]॥०८९३॥

बढ़ सकता आकाश में, वृक्ष सदैव असीम।
तस नर अन्तः-शक्तियाँ, विकस सकें निज भीम॥०८९४॥

चिन्तन में उत्कृष्टता, जगहित दया-निधान।
मिलते चरित पुनीत को, द्यौ सुख के अनुदान॥०८९५॥

मानव सद्व्यवहार है, सात्त्विकता का केत[६]।
सर्व-सुमंगल का रखें, सो उर चिन्तन नेत[७]॥०८९६॥

---

१. सुषीम-सुन्दर; २. सीम-सीमा; ३. भेल-अस्थिर, भीरु; ४. पाल-रक्षक;
५. चरितार्थ-घटित होना; ६. केत-घर; ७. नेत-निश्चय।

बचें पाप से जो रखें, सजग आत्मसम्मान।
समझें वे, पूरा करें, जीवन की पहिचान॥०८९७॥

सञ्ज्ञा में रहते हुये, ध्यान, मनस्-विश्राम।
मन से रहना मुक्त है, अतः ध्यान का काम॥०८९८॥

जीवन की सामान्यता, होना पतित महान।
मात्र करे मन की दशा, अन्तर यह विदमान॥०८९९॥

पेड़ उगे जस बीज से, आदत रचें विचार।
सो न दास्य दुख दैन्य के, मत विचार मन-धार॥०९००॥

ढलें ज्ञान रुचि प्रेरणा, आस्थाएँ आचार।
साँचे, भिन्न स्वभाव के, होते मनुज विचार॥०९०१॥

नित्य सहज है कर्म का, उन्नति से सम्बन्ध।
कृत का अतः विचार से, रखें समन्वित सन्ध[१]॥०९०२॥

शक्ति अधिक है भाप से, केन्द्रित करें विचार।
सहज-कल्पना से परे, सम्भव करें निहार[२]॥०९०३॥

मात्र विचारों की रखे, मानव, शक्ति विशिष्ट।
फिर भी लक्ष्य-विहीन जो, जिए सदा दुख-विष्ट[३]॥०९०४॥

जन्में निर्मित-दृष्टि से, उन्नत अवनत कर्म।
दें जीवन को वस्तुतः, यही नरक या सर्म॥०९०५॥

व्रत से तज, आने न दे, नीच-वासना पास।
सेवन शुचिन्-विचार का, करना, है उपवास॥०९०६॥

सद्-विचार का सिन्धु है, मेधा प्रतिभावान्।
व्यक्ति मात्र उपदेश में, हो नहिं सके समान[४]॥०९०७॥

---

१. सन्ध-सन्धि, योग; २. निहार-दृष्टि; ३. विष्ट-युक्त; ४. समान-सम्मानित।

पनपे नहिं संकीर्णता, चित में, करें उपाव।
तव प्रति जने समाज में, न तु विलगन टकराव॥०९०८॥

व्याख्या करें विचार की, सर्व-श्रेष्ठ, नर-कर्म।
रखें सुजीवन हेतु सो, निज विचार में धर्म॥०९०९॥

बचकानी उथली रखे, वाञ्छा साध[१] विचार।
विकसें उस व्यक्तित्व में, औछाई व्यतिचार[२]॥०९१०॥

क्या क्या उसके बैर में, हैं व्यवहार विचार।
पढ़ चित- रचना को सकें, सहज यही संस्कार॥०९११॥

मिले कर्म-सद्-सोच से, समाधान उपचार।
हाथ लगे कुछ चिन्त से, नहिं, सो कर सुविचार॥०९१२॥

होता मनस्-पुनीत का, जिसके पास अभाव।
सद्-कृत भलइ न प्रेम का, पा वह सके स्वभाव॥०९१३॥

अनौचित्य का ही किसी, पाते दुख गतिरोध।
लख निज युक्ति विचार सो, पुनः पुनः कर शोध[३]॥०९१४॥

मात्र सीम में बाँधते, नर विश्वास विचार।
कर्म-निरत रह दे उनें, सो उन्नत विस्तार॥०९१५॥

प्रबल इषण संकल्प हो, लगन आत्मविश्वास।
उस विचार के यास में, अवसि करे जय वास॥०९१६॥

जिसके कर्म-विचार में, रहता मन थिर शान्त।
रह गतिविधि उसकी सकें, भ्रान्तिहीन बिन क्रान्त[४]॥०९१७॥

लख पीड़ा की आँख से, नहीं भूत का चित्र।
लख उस जन्मे चित्र की, क्या थी वरन् धरित्र॥०९१८॥

---

१. साध-लक्ष्य; २. व्यतिचार-पापाचरण; ३. शोध-शुद्धि कर;
४. क्रान्त-कष्ट-ग्रस्त।

स्वास्थ्य, प्राप पुनि हो सके, सम्पद् भूला-ज्ञान।
पर खो अवसर हाथ से, पा भी सका न वान[1]॥०९१९॥

अवसर एक अमोल है, इस जीवन की भोर।
मात्र सफल, जिसने जिया, इसको शान्त असोर[2]॥०९२०॥

'क्या नहीं करना' का करें, सर्व-प्रथम निर्धार।
शेष सफल-हित स्वयम् ले, तब दृढ़-मन अवतार॥०९२१॥

करे विचार प्रवाह को, जोय स्वयम् अवरुद्ध।
पीछे स्वयम् ढकेलता, तब निज प्रगति अबुद्ध॥०९२२॥

दृष्टि विचारों भाव की, युति[3] ही गढ़े स्वभाव।
सो आभासी भिन्न के, प्रति रख, बन समभाव॥०९२३॥

स्वार्थ-त्याग परमार्थ के, केवल रखें विचार।
सबकी औषधि, हों भले, दैहिक मनोविकार॥०९२४॥

तनि भी नहिं शंका भली, रहना भला सचेत।
चित मुद कोमलता हरे, क्योंकि, अथिर कर केत॥०९२५॥

भल[4] चिन्ताओं से रहे, भय से शक्त विमुक्त।
बुद्धिमान से उलझनें, हो न सकें संयुक्त॥०९२६॥

करते बहुधा दूसरे, निरा मूर्ख व्यवहार।
मात्र उपेक्षा बर्तना, तब उत्तम प्रतिकार॥०९२७॥

रखे सीम आदर्श की, यदि नहिं धी को बाँध।
दे उद्धत उन्माद से, जग को तब यह आँध[5]॥०९२८॥

पाना नहिं ऐश्वर्य के, मद से कभी यशस्व।
खोकर सुध में आ सके, न तु चरित्र सर्वस्व॥०९२९॥

---

१. वान-चतुर; २. असोर-बिना वक्र गति; ३. युति-योग, मिलाप;
४. भल-भला, सज्जन; ५. आँध-विपदा, क्लेश।

रहित स्वार्थ हंकार से, हो अपक्ष[१] हितकार।
उसकी संगति में रहें, रख श्रद्धा सत्कार॥०९३०॥

बना, बुद्धि विज्ञान से, अन पर सकें प्रभाव।
मान पा सकें, दें उसे, यदि सुविधा सुख-भाव॥०९३१॥

देता वचन अबेर से, मानुष प्रज्ञावान्।
पर जीवन-भर पालता, दिये वचन का मान॥०९३२॥

करें सखा आलोचना, बोलें अरि कटु-शब्द।
तव भूलों का ज्ञान दें, सुन! रह धीर अशब्द[२]॥०९३३॥

त्याग-भाव धीवन्त हों, हों अनुशासित लाज।
मित्र बना, चुन ऐस ही, रहने हेतु समाज॥०९३४॥

है माँगन, ज्यों आपने, मृत से लिया उतार।
दाम चुकाकर प्राप है, पर ज्यों देवाहार[३]॥०९३५॥

खिन्न अधनता से न हो, सोच समझ कर यत्न।
दे दिक् साहस सूझ को, गुदड़ी[४] ऐसा रत्न॥०९३६॥

व्यक्त मूल्य व्यक्तित्व का, करता केवल ज्ञान।
बिरथा साधन शक्ति सो, करें न, धनहित वान॥०९३७॥

जोय प्राप को त्याग दें, रख दुर्लभ की आस।
दोउ हाथ उनके रहें, रीते सदा उदास॥०९३८॥

अनौचित्य का है नहीं, त्याग दमन पर्याप्त।
मुख्य वरन् स्वीकारना, सर्वोचित जो आप्त[५]॥०९३९॥

उपल[६] उपल[७] नहिं वस्तुतः, उपल[६] अन्न जल ज्ञान।
जग में जीवन को रखें, जोकि सफल विदमान॥०९४०॥

---

१. अपक्ष-निष्पक्ष; २. अशब्द-मूक, मौन; ३. देवाहार-अमृत; ४. गुदड़ी-गरीबी की दशा; ५. आप्त-यथार्थ, विश्वसनीय; ६. उपल-रत्न; ७. उपल-पत्थर।

पाप दोष से स्वयम् को, बचना, पुण्य महान।
सत्त्व हरण से और के, पर भल देना प्रान॥०९४१॥

मात्र गुणों पर ध्यान दे, कर उसका गुणगान।
स्वयम् अगुण तज, पा सके, तब तव-चित उत्थान॥०९४२॥

उदित हृदय में शान्ति हो, मन में पवित प्रकास।
स्वतः, सुगुण लख और के, निज गुण पाव विकास॥०९४३॥

रक्षक भक्षक स्वयम् को, समझें, पल वह धन्य।
शान्ति द्योत तब स्वयम् में, प्रकटे क्योंकि स्वजन्य॥०९४४॥

नहिं कर चिन्त भविष्य की, वर्तमान जी शस्य।
जायेगा न तु गर्त में, हो निराश पर-वश्य॥०९४५॥

उदय, अस्त पर भी रखे, ज्यों रवि मुख अरुणाभ।
इक-रस रह! पाये भले, हानि अजय जय लाभ॥०९४६॥

निज अवगुण पर-गुण रखे, चेतो में मन्तव्य।
समझे बिन देता नहीं, समझदार वक्तव्य॥०९४७॥

करें रोक कर हाथ को, चलें रोक कर पाँव।
बरत समझ इतनी, पड़े, तब नहिं दुख की छाँव॥०९४८॥

करें समझ से, हो नहीं, जो चित व्यग्र मलीन।
रह नहिं पाता अन्यथा, अन्तः कभी कुलीन॥०९४९॥

तुलना में धन-धान्य के, 'समझ' महान-अतीव।
जो रक्षण साफल्य दे, पग पग रख सुग्रीव[१]॥०९५०॥

समझ अविकसा स्वयम् को, जो निज पैर बढ़ाय।
प्रगति श्रेष्ठता योग्यता, वही उच्च कर पाय॥०९५१॥

---

१. सुग्रीव-वीर।

हितकारी को प्रेम से, सुनें, करें, सत्कार।
सर्व सुमंगल के रहें, सो ज्ञानी व्यवहार॥०९५२॥

है विचारणा भाव-से, मनुज मुक्ति का नाम।
स्वहित हेतु पर बुद्धि से, यह भव कर्म उदाम[१]॥०९५३॥

औरों को नहिं स्वयम् को, प्रियवर मात्र सुधार।
तब लख तव सम्पर्क का, सुधरेगा व्यवहार॥०९५४॥

नहिं दरिद्रता, है बुरा, मात्र दरिद्र-विचार।
पग पग जो रचता रहे, इक कुत्सित संसार॥०९५५॥

उद्‌गम, कार्य विचार हैं, कर जो सकें सुधार।
निज थिति में बदलाव को, सो निज बदल विचार॥०९५६॥

शुभ भावों को जन्म दे, बाँध[२] बनाये एक।
है संयत व्यवहार ही, जिसको जने विवेक॥०९५७॥

वस्तु मोल परखें, करें 'है' का सद्-उपयोग।
नहिं अभाव को भोगते, जीवन भर अस लोग॥०९५८॥

उसमें मिले मनुष्यता, जिसका सजग विवेक।
सो पर-सेवा में रखें, अपना तन मन टेक॥०९५९॥

जीवन सुख का मूल है, चिन्तन-वृत्ति सकार।
मिले मात्र गुणवान् को, इसी हेतु सत्कार॥०९६०॥

चिन्तन में उत्कृष्टता, रखना कृत आदर्श।
मात्र यही अध्यात्म है, जीवन हित सत् मर्श[३]॥०९६१॥

उठा स्वयम् को, स्वयम् को, कस भी अपने आप।
तब निज रक्षा पा सके, बन सुविचार अपाप॥०९६२॥

---

१. उदाम-निरंकुश, उग्र; २. बाँध-गठजोड़; ३. मर्श-सच्चा ज्ञान।

पा पग-दृष्टि सतर्क

है जीवन से द्वेष सा, व्यर्थ समय का नास।
क्योंकि समय से ही हुआ, जीवन का विन्यास[१]॥०९६३॥

प्रथम धर्म नर जन्म का, निज तन रक्षण धर्म।
तब सब बरते जा सकें, धर्म भाव कृत[२] कर्म॥०९६४॥

यतनों से निज दोष से, बचना वश की बात।
जीवन का सो पा सके, कोई कभी प्रभात॥०९६५॥

करें समञ्जन धैर्य से, अगिन मिल सकें सीख।
परिवर्तन ही स्वयम्-में, क्योंकि रखे भवि-लीख[३]॥०९६६॥

साथ सर्व-सामर्थ्य ले, हुआ मनुज उत्पन्न।
हाय! प्रगति तज, क्षुद्रता, चुन, पाये पर सन्न[४]॥०९६७॥

व्यक्ति स्वयम् नहिं चाहता, तजना निज अभ्यस्त।
कठिन न तजना अन्यथा, वह जो रखता त्रस्त॥०९६८॥

लड़े मरे झगड़े, करे, धर्म हेतु सब काम।
जिए न नर पर धर्म को, हा! सो जग दुख-धाम॥०९६९॥

मानदण्ड सौन्दर्य का, रूप न तन सिंगार।
सुन्दरता, चित पूत की, वरन् मान्य, स्वीकार!॥०९७०॥

शिखर चाहते पर करें, तल से नहिं अथ सर्म[५]।
सफल विफल में झूलते, रहते ऐस अशर्म[६]॥०९७१॥

आये अवसर युक्त का, करते नहिं उपयोग।
पछताते दुख भोगते, पिछड़ रहें वे लोग॥०९७२॥

---

१. विन्यास-स्थापन; २. कृत-उद्देश्य; ३. भवि-लीख-भविष्य की मर्यादाएँ; ४. सन्न-नाश; ५. सर्म-गमन; ६. अशर्म-दुखी।

लिप्सा जिह्वा की बुरी, रहे मृत्यु को भूल।
सो अस मति बन, जान ले, अननुकूल अनुकूल॥०९७३॥

अबल, शक्त होते हुए, है निर्धन धनवान्।
धर्म-विरत, विद्वान भी, होता मूर्ख समान॥०९७४॥

लख पर विद्या बुद्धि को, करना नहिं विश्वास।
वरन् प्रथम मन-सृष्टि के, पढ़ना वृत्ति प्रयास॥०९७५॥

वर्तमान थिति में रहे, जब भी मन सन्तुष्ट।
सत्य लक्ष्य भूले, चले, पन्थ, भले अति-दुष्ट॥०९७६॥

लगने लगती स्वयम् की, आवश्यकता[१] व्यर्थ।
तभी निराश जिजीविषा, ढूँढे कुछ नव अर्थ[२]॥०९७७॥

अन्यों ने जो हानि की, किया पर-भला भूल।
न तु दुख दें प्रतिशोध के, उग निज उर में शूल॥०९७८॥

सुख दुख की अनुभूति में, प्राणी सभी समान।
समझे जो, वह दे कभी, दुख न किसी को हान॥०९७९॥

कर्म सर्व-कल्याण के, हैं वे स्रोत अनन्त।
अद्भुत जीवन-शक्तियाँ, जो दें जगा तुरन्त॥०९८०॥

जो अपने कल्याण के, कर अविलम्ब, उपाय।
क्योंकि वृद्धता स्वयम् ही, भारभूत बन जाय॥०९८१॥

मूल्य अँकें निज कर्म का, रख निष्पक्ष विचार।
पायेंगे तब, प्राप हो, ठीक कर्म-अनुसार॥०९८२॥

आता अवसर रूप में, अगणित बार सुहाग।
स्वागत जो उसका करें, उनें बनें यश, राग॥०९८३॥

---

१. आवश्यकता-उपस्थिति; २. अर्थ-निवारण।

कर्मों के पीछे रहें, वर्तमान थिति भाग[1]।
भाग्य अटल, थिति का करें, सो सुभोग, रख जाग॥०९८४॥

करे पाठ, करता नहीं, पर उसके अनुसार।
वह नर अस जो छू लखे, नित अन के हथियार॥०९८५॥

व्यसनी हैं सब शास्त्र के, चिन्तक शिक्षक छात्र।
पर अनुगामी शास्त्र के, हैं साँचे विद्, मात्र॥०९८६॥

क्षमता बढ़े विकास की, करके क्रम अनुसार।
करे तुरत-फल पाव को, पाव निराशा हार॥०९८७॥

भाग्य, रीतियों पर रहें, चुप, करके सन्तोष।
सजग! प्रगति में वस्तुतः, हैं ये बाधक दोष॥०९८८॥

रखता कार्य अनेक में, डाले अपना हाथ।
सफल एक में भी न हो, पावे अगति[2] अकाथ॥०९८९॥

करें अनियमित रूप से, भार समझ कर काम।
मन पर उनके ही चढ़े, बन थकान उद्दाम[3]॥०९९०॥

उनसे अपने कार्य को, न करा, रहे अपूर्ण।
करते क्योंकि प्रमाद से, या फिर बरतें तूर्ण[4]॥०९९१॥

करा सके, क्रम से किया, लषित[5] अवसि ही प्राप।
पर न तजा हो बीच में, कर अथ क्रिया-कलाप॥०९९२॥

जीवन में दुष्कर्म का, नरक वस्तुतः पाक।
सो नहिं रख घिन शत्रुता, पर-अगुणों पर ताक[6]॥०९९३॥

जने अहम्, कर नीच[7] से, ऊँचे से कर हीन।
करें न सो तुलना, रहें, यथा-शक्ति कृत लीन॥०९९४॥

---

१. भाग-भाग्य; २. अगति-दुर्दशा; ३. उद्दाम-उग्र; ४. तूर्ण-शीघ्रता, तेजी से; ५. लषित-इच्छित; ६. ताक-खोज, टोह; ७. नीच-किसी गुण में अपने से नीचा।

उभरें अगिन बुराइयाँ, टले काम में, तात।
करना आते ही उसे, अतः लाभ की बात॥०९९५॥

खाये पहिने एकला, आश्रित फाँकें धूर[१]।
पापी नहिं उससे बड़ा, जग में कोई क्रूर॥०९९६॥

है सूचक दायित्व का, दिया गया आसीस।
पथ-सुझाय, आशीष है, सो बोझों की टीस॥०९९७॥

गँवा चुका शालीनता, जो कर क्रोध प्रचण्ड।
कट सब उससे दूर हों, भले न वह उद्दण्ड॥०९९८॥

कभी किसी से चाहता, करना कुछ भी प्राप।
नीचा ला तब स्वयम् को, बन भी कभी न बाप॥०९९९॥

मूर्ख न बनने दे, बना, सुगुण सजन सन्तान।
घर ही नहिं बढ़ती[२] रहें, जो जन-हित का मान॥१०००॥

सदा प्रेम, बिन ज्ञान के, चले मोह के साथ।
किन्तु ज्ञान, बिन प्रेम का, चुने नकारी पाथ॥१००१॥

दर्पण द्वारा की गई, मिथु शन्सा में नाहिं।
वरन्, ढूँढ सौन्दर्य को, अन-प्रति अपनत माहिं॥१००२॥

बहुधा लौकिक प्रेम में, रहे प्रेम चुप-गुप्त।
होते स्वार्थ समाप्त, हो, कथित प्रेम भी लुप्त॥१००३॥

जितना साधें कर्म को, प्रेम और सद्भाव।
उतना दण्ड विधान भी, रचता विधिक स्वभाव॥१००४॥

मनो-सम्तुलन वस्तुतः, जीवन विधि अनमोल।
भरे शान्ति सुख कर्म में, स्वर को दे मधु बोल॥१००५॥

---

१. धूर-धूल; २. बढ़ती-बढ़ाती।

न रख आस अन से, चलें, तव कहने अनुसार।
उलझन घने तनाव में, न तु चित रहे असार॥१००६॥

अपनी या अपनी नहीं, वस्तु न दे अभिमान।
अपनी नहिं, अभिमान दे, अपनी लें जब मान॥१००७॥

सब पर आँख तरेरना, आस-पास से बैर।
आत्म-हनन को वस्तुतः, विवश बढ़ाता पैर॥१००८॥

अति घमण्ड गम्भीरता, स्वहित-चिन्त घनघोर।
समझें उस व्यक्तित्व ने, दारिद रखा बटोर॥१००९॥

हो मदान्ध, बोले करे, वचन कार्य अनुयुक्त[1]।
वह समाज घिन दण्ड से, रह नहिं सके अभुक्त[2]॥१०१०॥

स्वगुणों की मद-मन्यता, देखे अन के दोष।
बढ़ता भी तब चित्त का, सजग! अहम् अघ रोष॥१०११॥

अन पर या विभु पर मढ़ें, निज असफल कर रोष।
सजग! छिपायें वस्तुतः, चुप से अस निज दोष॥१०१२॥

कठिनाई से मिल सके, जो कर सतत् निहोर।
नहिं वह कभी उदारता, है स्वार्थी ऋण घोर[3]॥१०१३॥

क्रोध न करना, मानना, दुर्जन का उपकार।
पवित क्योंकि व्यक्तित्व हो, सहकर दुर्व्यवहार॥१०१४॥

रहती करुणा न्याय में, यदि है न्याय विशुद्ध।
बने क्रूर पर न्याय ही, करके न्याय विरुद्ध॥१०१५॥

पाप-दण्ड से हो सके, जब नद-नहा बचाव।
मिला लाभ अन्याय से, फिर क्यों न लें कुभाव[4]॥१०१६॥

---

१. अनुयुक्त-निन्दित; २. अभुक्त-बिना भोगा हुआ; ३. घोर-बुरा, निष्ठुर; ४. कुभाव-दुष्ट।

मन्दिर पूजा को खुले, नियत समय पश्चात्।
सदा पाप-अनुताप का, द्वार-खुला पर भ्रात॥१०१७॥

किया सभी छिप, ढालता, तिल तिल जटिल कुबान।
तब बन अपराधी जिए, इक दिन अवसि पुमान्॥१०१८॥

है यह प्रजनन पेट के, कर्मों की ही चूक।
वर्तमान उद्विग्नता, दे जो उर को धूक[१]॥१०१९॥

साँच समर्थक बोलते, नहिं विरोध में लेश।
तब बन भूप बुराइयाँ, रचें स्वहेतु निदेश[२]॥१०२०॥

दुष्ट-कर्म के पक्ष में, अधिक बोलते लोग।
जग में पनप बुराइयाँ, सो हों चरित कुरोग[३]॥१०२१॥

अपना अघ सुन हो उठे, आग बबूला पाप।
क्योंकि किया नहिं, सो करे, भला असुन बिन लाप[४]॥१०२२॥

दृग मूँदे दे मान्यता, ले विचार स्वीकार।
इससे बड़ा अनर्थदा, कुछ नहिं या संसार॥१०२३॥

घुमा फिरा भी और का, कर नहिं दोष बखान।
दे यदि दे एकन्त में, दोष-निवारण ज्ञान॥१०२४॥

पाल्यों का जो सुन सके, क्रन्दन करुण-पुकार।
त्याग सके चित से वही, हिन्सा अत्याचार॥१०२५॥

धन को बल माने, करे, कर-अघ भी उपदेश।
मूर्ख रखे आरोग्य की, बिना किये श्रम, एश[५]॥१०२६॥

कञ्चन रंग के बाल हैं, सो रखती अभिमान।
ऐसी भेड़ समान हैं, अज्ञानी धनवान्॥१०२७॥

---

१. धूक-धूर्त मनुष्य; २. निदेश-शासन; ३. कुरोग-दुस्साध्य रोग; ४. लाप-कथन, बोलना; ५. एश-चाह, एषा।

पर धन चाहे लीलना, झूठा हो या सूम।
घुटे प्राण उसको रखे, सदा दुखों का धूम॥१०२८॥

खटता बहुत समेटता, पर नहिं पाव सँभाल।
हाथ मले दुख रञ्ज में, जग हँस पीटे ताल[1]॥१०२९॥

देना धन ऐश्वर्य के, कारण उसको मान।
भ्रष्ट-वृत्तियों को जने, सो तज रे यह बान[2]॥१०३०॥

भले उपार्जित न्याय से, पर अधि अशुभ प्रतीक।
क्योंकि बाँध तब स्वयम् से, चित को रखे अनीक॥१०३१॥

श्रद्धा, आडम्बर बने, बने शक्ति, औद्धत्य।
तब कर्तव्य सचेतता, बने भीरु, है सत्य॥१०३२॥

साधो हूँ विश्वास दे, बकुल[3] खड़ा इक टाँग।
तस पग पग प्रस्ताव हैं, सजग! ठगें, बिन माँग॥१०३३॥

मृषा[4] सत्य जो भी रहे, नर जीवन आधार।
उस प्रति निज निश्चित करें, अन तस ही व्यवहार॥१०३४॥

रखे न क्षमता, कर्म में, सत् जो सके उतार।
रहे सहारे ढोंग के, उसका ही व्यवहार॥१०३५॥

वेश बनाये घूमते, विरले किन्तु विराग।
बरतें बरत सतर्कता, सो उनसे, जस काग॥१०३६॥

जग की आँखें लाख हैं, दो ही रखे पुमान्।
ठग नहिं सो जग को सके, भले कपट धीवान्॥१०३७॥

जिस कर्मठता, ज्ञात हों, नहिं सामर्थ्य स्वभाव।
करें न संगति, दे सके, उसकी, कष्ट कुभाव॥१०३८॥

---

१. ताल-हथेली; २. बान-आदत; ३. बकुल-बगुला; ४. मृषा-झूठ।

मिलते हर्षे, चोट दे, पर मुड़ते ही पीठ।
उससे नाता तोड़ना, है सर्वोत्तम दीठ॥१०३९॥

मधुर, समय आखेट के, करता गायन व्याध[1]।
सजग! चाटु बिन बात का, दुख दे सके अगाध॥१०४०॥

दुख हरने में और का, सहते कष्ट सुजान।
पर दुख देने में सहें, पीड़ा दुष्ट-पुमान्॥१०४१॥

गुणी-दास, माने[2] कहा, दारा, मित्र-सुजात[3]।
अधिप[4] रखे सख-भाव, से, मात्र कहें निज बात॥१०४२॥

उलझ नहीं शठ मूर्ख से, कर गुरु गुरुजन मान।
दे छुटवय को, विज्ञ से, परामर्श, ले ज्ञान॥१०४३॥

बरत नम्र से नम्रता, शठ से किन्तु कठोर।
जगत्-दृष्टि से सौख्य का, पथ यह मात्र अरोर[5]॥१०४४॥

कैसी हाय विडम्बना, कैसा है दुर्भाग।
रचे स्वयम्-हित स्वयम् ही, नर संतापक राग[6]॥१०४५॥

कारण प्रमुख, विवाद का, प्रकट विरोधाभास।
सजग! न कर सो आपसी, बढ़ जो सके खटास॥१०४६॥

जरा, जीवनी-शक्ति को, देते, कर आसार[7]।
सो कटुता नैराश्य का, आने न दे निहार[8]॥१०४७॥

रोध द्वेष षड्यन्त्र में, करे शक्तियाँ नष्ट।
अविधायक दम्भी रहे, पाता देता कष्ट॥१०४८॥

चलता करके मित्रता, तव आज्ञा अनुसार।
निबल शत्रु वह ले कभी, सजग! अवसि प्रतिकार॥१०४९॥

---

१. व्याध-आखेटक; २. माने-मानना; ३. सुजात-कुलीन; ४. अधिप-स्वामी; ५. अरोर-शान्त; ६. राग-द्वेष, क्लेश; ७. आसार-आक्रमण; ८. निहार-कुहरा, कुहास।

चुप घूँसा खा भी रहे, उससे रहें सतर्क।
क्षमा कभी करती नहीं, उसकी अन्त: कर्क[1]॥१०५०॥

हों अपनों में आपसी, भले अगिन मतभेद।
पर अरि-प्रति हों एक, ले, न तु सुविधा, दे खेद॥१०५१॥

रोग शत्रु ऋण आग को, आँक न अल्प अशक्त।
जो थितियाँ उकसें[2] उनें, दूर हटा, कर त्यक्त॥१०५२॥

जले देखकर आपको, उस पर जलें न आप।
उसे जला उसका रहा, क्योंकि जलन का ताप॥१०५३॥

अपनी तुलना में करे, अपना कोउ विकास।
सहज हर्ष तब मान, हो, न तु कुण्ठित हत-यास॥१०५४॥

नहिं निज क्षमता योग्यता, बौनी आँक पुमान्।
पा न सके न तु पात्रता, समुचित सुख उत्थान॥१०५५॥

तन-सौन्दर्य अभाव का, पूरक रुचिर स्वभाव।
पर तन-सुष्ठु, सुचित्त का, करे न पूर्ण अभाव॥१०५६॥

सौख्य, वासना का रखे, विष अस स्वत: भयाव।
जो दे अपने दास के, जला मानवी भाव॥१०५७॥

जिनको दारा मित्र का, मिला नहीं सहयोग।
भले प्रतिष्ठित, पा सकें, सुख नहिं ऐसे लोग॥१०५८॥

है प्रसन्नता, भाग की, रचना का, इक स्रोत।
वञ्चित इसके लाभ से, रहे अज्ञ पर भोत[3]॥१०५९॥

रख नहिं चित में खिन्नता, है भयाव यह ज्वाल।
क्योंकि दीनता हीनता, दे दे, करे निढाल॥१०६०॥

---

१. कर्क-आग; २. उकसें-उकसाती हैं; ३. भोत-बहुत।

नहीं दुखों से कोउ भी, बचता या संसार।
रहना है समभाव में, दुख का पर उपचार॥१०६१॥

जीवन दुख पीड़ा भरा, नहीं क्लेश का अन्त।
पर दुख सुख-पथ दे, करें, सो उस स्वागत सन्त॥१०६२॥

तत्पर हो करते रहें, निज उन्नति के यास।
दुख निवृत्ति सुख-लब्धि का, अनुपम पथ यह न्यास[1]॥१०६३॥

सुख मिलता थितियाँ मिलें, जब स्वभाव-अनुकूल।
ढलना उस अनुरूप ही, सो जब थिति प्रतिकूल॥१०६४॥

जिसे कराना चाहते, तब अस करें उपाय।
पूर्ण उसे करते हुए, जो उस चित् हरषाय॥१०६५॥

जिनें देख, समझें सुखी, सुखी नहीं वे लोग।
रहें तुष्ट निज आज में, मात्र करें सुख-भोग॥१०६६॥

धैर्य शौर्य गम्भीरता, यदपि मनुज सिंगार।
कर प्रयोग इन शक्ति का, किन्तु समय अनुसार॥१०६७॥

वह नर वस्तु विचारणा, होते हैं सब नीक।
जो उर को उत्साह दें, नस-कर सभी अभीक[2]॥१०६८॥

धैर्य साथ जब छोड़ दे, हो[3] भयाव प्रतिशोध।
अवसि काण्ड करके रहे, भले अगिन हों रोध॥१०६९॥

दुर्गम नग चढ़ना लगे, तस विपदा का भार।
शक्य करे, पर धैर्य से, बढ़ना-मन्द, निवार॥१०७०॥

कर्म कर्म जिनके रहें, आत्म-शन्स बड़बोल।
कर कदापि नहिं वे सकें, पर-हित स्वहित, अमोल॥१०७१॥

---

१. न्यास-धरोहर; २. अभीक-क्रूर; ३. हो-हो जाता है।

मुझे मान दें, स्वयम् दे, बना स्वाक्ष[1] में नीच।
पर बड़पन का भाव दे, मैं दूँ मान, उलीच॥१०७२॥

करें प्रशन्सा, हों भले, उनमें गुण नहिं कोय।
सदा साथ का हाथ दें, अस नर बिन पल खोय॥१०७३॥

शन्सा दे भल प्रेरणा, निन्द उधारे दोष।
दोउ श्रेष्ठ हैं, क्योंकि दें, सुपथ, हटें मन मोष॥१०७४॥

विष सम बच सम्मान से, अहम्-बीज जो बोय।
मिली-उपेक्षा, ही भली, दे उन्नति-सुधि जोय॥१०७५॥

बुझी दारु तत्काल ही, ज्वाला पकड़ न पाव।
रहे सुयश तस जो करें, सतत् सुयश बरताव॥१०७६॥

अन से तेरी भी करे, निन्दा, यह सच मान।
सो निन्दक से अन्य की, न सुन निन्द, रख ध्यान॥१०७७॥

उपालम्भ[2] उपहास से, टूटे सखा-निभाव।
बनने दें नहिं साख्य को, सो बोझिल बरताव॥१०७८॥

नहीं देख-सुन हो सके, गुण अवगुण पड़ताल[3]।
निन्दा करना त्याग दें, अन की सो तत्काल॥१०७९॥

सदा सोम के तुल्य हैं, निन्दा अरु अभिमान।
पर यश को बनने न दें, सजग! अहम् प्रतिमान[4]॥१०८०॥

पर उन्नति में साथ दे, दे उत्साहन माद[5]।
आत्म-मान सम्पृक्त है, करें स्वगत सो वाद[6]॥१०८१॥

अर्थ धर्म यश नहिं मिलें, न कर भूत पर शोक।
तन मन रोगीले बनें, प्रत्युत हँसता लोक॥१०८२॥

---

१. स्वाक्ष-अपनी ही आँख; २. उपालम्भ-निन्दा, दुर्वाक्य; ३. पड़ताल-जाँच; ४. प्रतिमान-प्रतिमा, प्रतिमूर्ति; ५. माद-हर्ष; ६. वाद-वार्तालाप।

उस द्वारे जाए जहाँ, मिलता हो अपमान।
बिन पूछे उपदेश दे, उस मत[1] पर मत ध्यान॥१०८३॥

व्याकुल थितियाँ जो करें, दें नित चोट तनाव।
हट विदूर उनसे जहाँ, रिस न सके मन-घाव॥१०८४॥

मुँह पर या पीछे मिले, जहाँ मान को हान।
रक्षा हेतु स्वमान की, मन से तज वह थान॥१०८५॥

वधू[2] पुत्र सेवी करें, पा प्रभुता अपमान।
उनसे जुड़ फिर भी रहे, ऐसा त्याज्य पुमान्॥१०८६॥

जीते जो हठधर्मिता, मान उनें सिद्धान्त।
अकड़ ओढ़ फिरते, रहें, किन्तु निराश अशान्त॥१०८७॥

रोक व्यर्थ का बोलना, चुलबुलपन शठ-हास।
हो न तु अन्त:-व्यक्ति के, यश गौरव का नास॥१०८८॥

नाम रूप का स्वयम् के, चाहे करे प्रचार।
रहता जन जन दृष्टि में, वह ओछा बड़मार[3]॥१०८९॥

पर-उन्नति लख झूठ ही, दिखा न शन्सा मान।
उसकी वरन् विशेषता, गह, न तु मिले नसान॥१०९०॥

मुख मुद्रा मुद हीय से, बुला पूँछ उस छेम।
तब वह तव बन सर्वदा, करता आदर प्रेम॥१०९१॥

स्वंहितों की भी पूर्ति में, रखे उपेक्षा भाव।
वह जन गण प्रत्येक से, तिरस्कार ही पाव॥१०९२॥

जहाँ अकारण ही मिले, अति का आदर मान।
सजग! अवसि दुखदा वहाँ, घात हनन विदमान॥१०९३॥

---

१. मत-सम्मति, कथन; २. वधू-पत्नी; ३. बड़मार-ढींग हाँकने वाला।

आत्म-त्यागं की सीख दे, करती सुगुण विकास।
भाव, व्यवस्था के जगे[1], बचत-वृत्ति, अस आस॥१०९४॥

रखना निज व्यय आय का, बना सन्तुलित नात।
तब जीवन-सुख का यही, मितव्यय, बने प्रपात॥१०९५॥

यदि धुँधला[2] शंका भरा, उस पर नहीं विचार।
बोधगम्य अपरोक्ष का, पहिले कर उपचार॥१०९६॥

वृक्ष घृणा विद्वेष का, करे खड़ा सन्देह।
करें निवारण आपसी, न तु फलता नित एह[3]॥१०९७॥

भले आज में ही रहें, जीते किन्तु अतीत।
वे निज नातों कर्म को, रखें उदास व्यतीत[4]॥१०९८॥

नहीं डराता और को, कभी न हो भयभीत।
किन्तु डराता जो, रहे, सदा डरा हे मीत॥१०९९॥

करे चाटु[5] नित उच्च की, लघु-बल का अपमान।
है यह सहज समाज में, कायर की पहिचान॥११००॥

हाहा ठीठी हेतु भी, न कर व्यंग्य उपहास।
न तु बढ़ता दुर्भाव, हो, कटु सखिनात-मिठास॥११०१॥

नीक, रहे मर्याद में, करना व्यंग्य विनोद।
न तु पर यश सम्मान को, दे यह ठेस, प्रमोद॥११०२॥

निहित ठिठोली में रहे, लख, बहुधा अपमान।
मैत्री नहिं ये शत्रुता, बढ़ती, सो तज बान॥११०३॥

हँसना उन पर जो रखें, मानवता से द्वेष।
पर अति मिठ वागीश[6] से, रह सतर्क रख श्लेष।[7]॥११०४॥

---

१. जगे-जगाती है; २. धुँधला-अस्पष्ट; ३. एह-यह; ४. व्यतीत-मृत, उपेक्षित; ५. चाटु-चापलूसी; ६. वागीश-वक्ता; ७. श्लेष-लगाव।

मुखड़े पर उनके रहे, उमगा हुआ वसन्त।
क्रिया भाव प्रत्येक में, जिनके, हास अनन्त॥११०५॥

नहीं, देख निरुपाय को, उसका बना मखौल।
कौन भाग्य को जानता, होगा तव क्या डौल[१]॥११०६॥

किसी सहारे से नहीं, पा उपाधि पद मान।
न तु कचोट जीवन जिए, मात्र द्वन्द्व खिँचतान॥११०७॥

करे प्रतीक्षा कार्य की, यद्यपि साधन पास।
अवसर अस अथ का नहीं, पाव, रहे थिति-दास॥११०८॥

सबकी चिन्तन दृष्टि में, स्वाभाविक, है भेद।
रूप इसे मतभेद का, पर दें कितना खेद॥११०९॥

स्वयम् व्यक्त करता जिसे, मानव का व्यवहार।
मन पर, सीखें भावना, छुटें उसी अनुसार॥१११०॥

समाधान देती नहीं, कोउ निराश उदास।
पुनः सोच यह मन्त्र है, जीवन बने सुहास[२]॥११११॥

वर्तमान[३]-सौभाग्य की, बिजली जैसी कौंध।
सदुपयोग कर अन्यथा, हो विलुप्त ज्यों सौंध॥१११२॥

नहिं अपने नहिं और के, अनुभव से ले लाभ।
या तो वह नर मूढ़ है, या नितान्त पशु-आभ[४]॥१११३॥

मात्र मौख सिद्धान्त से, मिले न कोई दीख[५]।
पर, अनुभव का कण्ट भी, दे जाता कुछ सीख॥१११४॥

शक्ति प्रमुख है, शक्ति से, मिलता है अधिकार।
चिन्तन अस करता रहे, पर, गरिमा पर वार॥१११५॥

१. डौल-स्वरूप; २. सुहास-सुन्दर; ३. वर्तमान-उपस्थित; ४. आभ-सादृश्य; ५. दीख-दृष्टि।

उसे कराएँ भूल की, रह विनम्र अनुभूति।
है कठोर फटकार से, सदा श्रेष्ठ यह जूति[१]॥१११६॥

समझें तर्क विचारणा, थितियाँ उसके स्वार्थ।
काटें झगड़े आपसी, तब जो खड़े अकार्थ॥१११७॥

सेवा का मन्तव्य था, पाना मात्र प्रचार।
नहीं पुण्यकर! दे चले, अघ-पथ यह आचार॥१११८॥

पाठी शिक्षक मात्र हैं, शास्त्र व्यसन के लोग।
पर पण्डित वे, कर्म में, करें शास्त्र का योग॥१११९॥

करे अनुकरण और का , बिन समझे औचित्य।
उसे अवसि ही डालता, संकट में यह कृत्य॥११२०॥

मूर्ख हेतु बनकर रहे, ज्यों सूना, संसार।
दारिद पर, नर हेतु है, अति का सूना, भार॥११२१॥

कर बड़-बक[२] बिरथा नहीं, कोप करें चण्डाल।
उचित दशाएँ आज की, पढ़, तब कर्म सँभाल॥११२२॥

उसके मत अभिलाष से, रखना सह-अनुभूति।
साथ तभी वह दे, भले, अबल अयोग अभूति[३]॥११२३॥

एकाकी रहते नहीं, जिन शुभ नीक विचार।
दें उनको सहयोग वे, जो हैं दीन दुखार॥११२४॥

है अनुपम, रख शान्ति की, थिति चेतन अविकार।
ध्यान क्रिया मस्तिष्क को, सो दे बना असार[४]॥११२५॥

इक परिवर्तित दृष्टि है, रचनाकारी[५] सोच।
दूर करे, जो दे हटा, विघ्न व्यग्रता दोच[६]॥११२६॥

---

१. जूति-प्रोत्साहन; २. बड़-बक-बड़ी बकवास; ३. अभूति-निर्धन; ४. असार-शून्य, रिक्त; ५. रचनाकारी-सकारात्मक; ६. दोच-दबाव, संकट, दुविधा।

न दे यथोचित कर्म का, वेतन, करता पाप।
ऋण न चुकाए, दान दे, उसे नरक दे शाप[1]॥११२७॥

भली-भाँति सोचें, न दें, यदि कुपात्र है, दान।
क्योंकि कु-व्यय हो सो मिले, दाता को यश-हान॥११२८॥

की नहिं प्रकट कृतज्ञता, रखता उससे आस।
घूरे छिड़क गुलाल, को[2], चाहे निज उपहास॥११२९॥

निज-सुख पर-दुख में नहीं, कभी बरतता हर्ष।
दान दिये अनुशय[3] न हो, हो उस पर शुभ वर्ष॥११३०॥

उत्तम वैद्य मनुष्य के, संयम श्रान्ति[4] कठोर।
श्रान्ति बढ़ाये भूख को, संयम दे भख[5]-थोर॥११३१॥

रख विचार इक-ध्यान से, हो चिर अध्यवसाय।
सिद्धहस्तता विज्ञता, तब स्वरूप ले पाय॥११३२॥

उनका जब तव काम में, आवश्यक सहकार।
पास बुला नहिं, पास जा, तब मिलता उपकार॥११३३॥

आहत पर-छल से हुआ, फिर भी दया स्वभाव।
उपकारी जीता सदा, क्योंकि करुण रख भाव॥११३४॥

लेता माँ की कोख से, केवल जनम शरीर।
पर जीवन, व्यक्तित्व को, दे विद्या का क्षीर[6]॥११३५॥

बनें न प्रेमी विक्रमी, करें न पर-उपकार।
चरित न निखरे, त्याग दें, अस विद्या निस्सार॥११३६॥

वचन निरर्थक या कहें, कभी नहीं सावद्य[7]।
न तु चुभ श्रोता हीय में, दुष्फल रचते सद्य[8]॥११३७॥

---

१. शाप-धिक्कार; २. को-कौन; ३. अनुशय-दुख, पछतावा; ४. श्रान्ति -श्रम; ५. भख-भक्षण; ६. क्षीर-दूध; ७. सावद्य-निन्द्य, दूषित; ८. सद्य-तत्क्षण।

दमन दास नहिं, मित्र का, मन से रख बरताव।
कर्म सरलता से करे, तब वह रख शुभ भाव॥११३८॥

वचन न पालें बन रहें, अविश्वास के पात्र।
हेय-दृष्टि पाते सदा, अस समाज की मात्र॥११३९॥

यद्यपि गुरुजन की रहे, शिक्षा कठिन कठोर।
पर दुष्कृत्यों से बचा, करे मनुज-हित घोर॥११४०॥

प्रेम त्याग श्रम मान का, सिखा सके जो सार।
घर सा विद्यालय बने, तब हो मन उद्धार॥११४१॥

बूढ़ा नहिं वह हो गये, जिसके केश हिमाभ[१]।
वरन् श्रेष्ठ बूढ़ा वही, जिसे ज्ञान सत्-लाभ[२]॥११४२॥

बात बात माँगे क्षमा, करते डरे, नवीन।
उसे प्रथाएँ रूढ़ियाँ, अपने रखें अधीन॥११४३॥

परिपाटी का पालना, नहिं विवेंक नहिं ठीक।
बहुधा ही यह दे करा, क्योंकि कुकर्म अभीक[३]॥११४४॥

रीति प्रथा, मर्याद थीं, कभी, समय अनुसार।
परख! ठीक हैं या नहीं, आज, तभी आचार!॥११४५॥

मार्ग-दीप हैं रीतियाँ, यदि हों सर्व-सहाय।
उनें तजें पर दे रहीं, जो जग को अन्याय॥११४६॥

सभी जुटाते, दे सके, जो जीवन भर नन्द।
बना प्रथम इस हेतु से, सो इक मिन्त अछन्द॥११४७॥

मन जिससे मिलता नहीं, उस प्रति बनें उदास।
किन्तु सजग! सोचें न दें, उसे अनादर गास॥११४८॥

---

१. हिमाभ-श्वेत; २. सत्-लाभ-सत् अनुभूति; ३. अभीक-क्रूर।

रखे सुवर्तन[१] मित्र से, नहिं सम्यक् सम्वाद।
चञ्चल मर्कट सा फिरे, भटका बिन मर्याद॥११४९॥

बरत कठोर सतर्कता, रिपु से शक्य बचाव।
पर मित्रों से ही छला, जीवन क्षति क्षय पाव॥११५०॥

मंगन-लत लग-बुझ करे, गुप्त रखे नहिं बात।
असत् अथिर कटु को नहीं, बना मित्र, दे घात॥११५१॥

इधर उधर करना बुरा, द्वा प्रति-द्वन्दी[२] बीच।
न तु होने पर मित्रता, दो दें गति जस मीच[३]॥११५२॥

मन-रञ्जन होता नहीं, मैत्री का अभिप्राय[४]।
देना वरन् सुपन्थ की, मति, इसका पर्याय॥११५३॥

गोप्य बात को मित्र से, उचित, करें चुपचाप।
चौकस! रखती भीत[५] भी, पीछे कान अनाप[६]॥११५४॥

वश रखता जो स्वयम् के, मन-व्यापार चरित्र।
अपना! बनने योग्य है, निस्सन्देह वह मित्र॥११५५॥

हो जब, आपे में[७] रहें, भोजन भाषण काल।
दुखद-विघ्न न तु जन्म लें, अन्तः वाह्य कराल॥११५६॥

भटक लोक-शिव से न हो, प्राप कला का लक्ष।
करके रहे समाज को, न तु वह नष्ट अनक्ष[८]॥११५७॥

भले बहुत विद्वान है, भाषा पर अश्लील।
अस सामाजिक दृष्टि में, चुभता जैसे कील॥११५८॥

कथनी में सम्भावना, रखें, रखें नहिं द्वैध।
न तु समाज समझे छली, जब नहिं उतरे वैध[९]॥११५९॥

---

१. सुवर्तन-अच्छा व्यवहार; २. द्वन्दी-बैरी; ३. मीच-मौत; ४. अभिप्राय-अर्थ; ५. भीत-दीवार; ६. अनाप-असीम; ७. आपे में-बिना क्रोध के शान्त; ८. अनक्ष-अन्धा; ९. वैध-सत्य, सही।

खोट सीखता और के, खोटों से तत्काल।
यदि सुगुणों से सीखता, बनता सुजन सुचाल[१]॥११६०॥

यदि सामाजिक आप्त[२] ही, छिप हों, हीन चरित्र।
पतन दीनता पा रहे, तब वह लोक-धरित्र॥११६१॥

प्रतिभाओं को गर्त में, देते हैं जो डाल।
ज्ञानहीन हो नष्ट हों, राष्ट्र वही तत्काल॥११६२॥

हा! आरक्षण घात का, असह कुठाराघात।
जो बौद्धिक क्षमता करे, कारा में अवज्ञात[३]॥११६३॥

बहरा वह, नहिं ले सका, सद्‍वचनों का नन्द।
लख अस जीवन बन रहे, मृत सा नरकी[४] मन्द[५]॥११६४॥

जितना रखें निसर्ग से, अपनापन सामीप्य।
तुष्टि पुष्टि उतनी मिले, आत्मशान्ति आधिक्य॥११६५॥

घर ही वन-निर्जन उसे, जिसका है मन शान्त।
रोरमयी वन भी लगे, पर जो रहे अशान्त॥११६६॥

अपनों में रहना पड़े, बन अपमानी हीन।
भला भीख पा शान्ति से, जीना उसे अदीन॥११६७॥

जहाँ कलह पल पल रहे, न हों सजन[६] व्यवहार।
बसें वहीं जा, शक्य है, उनमें तभी सुधार॥११६८॥

सम्भव हो जिस भाँति से, सफल, शान्ति से काम।
पर्यावरण अशान्ति का, दे नहिं वह परिणाम॥११६९॥

नित्य स्वपाठ सुसंग से, अविरत रखता प्रीत।
तब क्षय सब कुविचार हों, पवित रह सके चीत[७]॥११७०॥

---

१. सुचाल-सदाचारी; २. आप्त-विश्वस्त व्यक्ति; ३. अवज्ञात-तिरस्कृत;
४. नरकी-नरक-युक्त; ५. मन्द-नीच; ६. सजन-सज्जन; ७. चीत-चित्त।

क्षण व्यतीत[1] का है नहीं, सम्भव अब उपयोग।
वर्तमान के सो करें, पल पल का सद्-योग[2]॥११७१॥

स्वाभाविक, हों बूढ़ में, नर के लम्बे कान।
सिकुड़े पर उसके लिए, हा! घर का दालान[3]॥११७२॥

गुरुजन माँ पितु की कही, करे कोउ जो भंग।
दुष्टवृत्ति बनता जिए, जस विक्षिप्त मतंग॥११७३॥

अपने जो कल्याण के, कर अविलम्ब उपाय।
क्योंकि वृद्धता स्वयम् ही, भारभूत बन जाय॥११७४॥

परिजन शिष्ट सुभाष, हों, सब प्रति आदरवान्।
संस्कृत सौम्य सुशीलता, पातीं तब सन्तान॥११७५॥

जग में सब अभिनीत है, मन मन रचा चरित्र।
जीवन को सद् आँख दे, पर मन बना पवित्र॥११७६॥

उत्साहन है दम[4] नहीं, भूल किए पर डाँट।
सह ले जो, उसके हटें, आज भविष के काँट॥११७७॥

समस्याओं के खोज दे, स्वतः, पूर्ण-छुटकार।
पाना ही है खोजना, सो सद् खोज निवार॥११७८॥

यत्न समर्थों के करें, पिछड़ों को यदि सभ्य।
हो तब सके समाज में, सुख सर्वत्र सुलभ्य॥११७९॥

जिनें घृणा करते रहें, लेते मान नगण्य।
बहुधा पोषक राष्ट्र के, दें आदर, वे धन्य॥११८०॥

निकट किया विज्ञान ने, यह सारा संसार।
इसे स्वर्ग सो रे बना, उर उदार रख प्यार॥११८१॥

जिन दी सुविधा भोग, दे, उनको ही सन्त्रास।
जन्मों दे यह क्रूरता, अवसि उसे दुख नास॥११८२॥

---

१. व्यतीत-भूतकाल; २. सद्-योग-सद्-प्रयोग; ३. दालान-बरामदा;
४. दम-दमन, दण्ड।

रचें सर्व-कल्याण

भारत भा-रत[1] था कभी, लख पर क्यों भाहीन।
क्योंकि उरस् सब हो गये, अपचारों में लीन॥११८३॥

चित-प्रेरण, दायित्व को, या चाहे अधिकार।
सतयुग कलियुग जन्म हो, तब उसके अनुसार॥११८४॥

मत्स्य-न्याय जिस वर्ग में, व्यापित विपिन विधान।
नहिं विशिष्टता मानवी, वहाँ पा सके प्रान॥११८५॥

मिला कामना-पूर्ति से, मिला कामना त्याग।
शीतल सुख था कौन सा, बता साँच बिन-लाग॥११८६॥

युग कोई हो क्या हुआ, युग के न हो अधीन।
वरन् श्रेष्ठ-प्रति कर्म को, पग पग बना नवीन॥११८७॥

सूझ-बूझ पैनी रखें, हो क्या सकते पाक[2]।
तब भविष्य की हो सके, रचना उज्ज्वल नाक[3]॥११८८॥

ही दय बसा, फुहारती, निज सुवास सर्वत्र।
मनहर जग-उद्यान हो, उर उर फल तब सत्र[4]॥११८९॥

यदि गुण कर्म स्वभाव में, सम्वर्द्धित हो शील।
पा सद्भाव समाज का, नग हो तब नर डील[5]॥११९०॥

जीवन का निज चित्त से, होता सदा निकास।
सो मन की रक्षा रखें, भलता के रख पास॥११९१॥

बन प्रेरण सौन्दर्य का, दया नेह का स्रोत।
जन जन में सौहार्द की, फैल सके जो ज्योत॥११९२॥

---

१. भा-रत-आभायुक्त; २. पाक-परिणाम; ३. नाक-कष्ट रहित;
४. सत्र-उदारता; ५. डील-कद, ऊँचाई।

लक्ष्य श्रेष्ठता का रखें, संयम सद्-आचार।
महा-मनुज तब चित्त में, आ, पथ चले सुखार[१]॥११९३॥

सबसे प्रियता पा सके, माधुर वाणी भाव।
वञ्चित आदर से रहे, पर शठ स्वार्थ स्वभाव॥११९४॥

आगत-सोची साहसी, जयें कर्म में लीन।
भर नहिं पाते पेट भी, न तु पुरुषार्थ-विहीन॥११९५॥

घिस कर स्वयम् सुवास दे, मलयज का अस्तित्व।
सह कर कष्ट असीम भी, तस कर भल कर्तृत्व॥११९६॥

युद्ध जीतने से नहीं, होता मनुज महान्।
विजय स्वयम् पर पा सका, बनता वरन् प्रमान॥११९७॥

कर न सुखी कोऊ सके, उसको, जो अनुदार।
दुखी न हो, जिसके रहें, पर-भल बुद्धि विचार॥११९८॥

भले न्यून फिर भी करें, पर-गुण शन्स समूल[२]।
हों सद् इससे भाव भी, वह भी हो अनुकूल॥११९९॥

सुख दुख रहता द्वैत में, भ्रान्त सदैव अशान्त।
जने भुलाव छलाव को, मन अस घर आक्रान्त[३]॥१२००॥

भावनाओं का हो उठे, जब भी अतिशय वेग।
मुड़[४] तब, प्रभु-सुधि लेखनी, हेतु, वृत्ति सम्वेग॥१२०१॥

विभु के कड़े प्रतीत हों, यद्यपि नियम विधान।
पर कर सकते सृष्टि का, मात्र यही कल्यान॥१२०२॥

बैठ सकें उस पास में, रख उससे[५] गुण कर्म।
सो उपासना, धारना, विभु सी शुचिता धर्म॥१२०३॥

---

१. सुखार-सुख देने वाला; २. समूल-सकारण; ३. आक्रान्त-कष्टग्रस्त; ४. मुड़-मोड़; ५. उससे-उस जैसे।

उद्गति आदर पा सके, थिर, थायी सुख शान्ति।
मनुज, मनुज बन ला सके, जब निज मन में क्रान्ति[१]॥१२०४॥

चिन्तन औ' कर्तृत्व का, है मानव, संयोग।
तब जीवन-सुख पा सकें, जब यह समझें लोग॥१२०५॥

न्याय प्रेम सत् पालना, त्रिविध सनातन धर्म।
थित जीवन साफल्य का, मात्र इनी में मर्म[२]॥१२०६॥

ज्ञान सभी को, विश्व को, मिलें श्रेष्ठता प्यार।
पग चल जिनसे पा सकें, बाल युवा संस्कार॥१२०७॥

कोई जैसे ही गहे, पर आश्रय दासत्व।
समझें उसका नाश हो, तत्क्षण आधा सत्त्व[३]॥१२०८॥

एकाधिक एकान्त में, करते हों जब बात।
युक्त निकट जाना सदा, उन सम्मति पश्चात्॥१२०९॥

मात्र चिन्त कर हो सके, जिससे तन निर्वाह।
अधि सुख-चिन्ता क्योंकि दे, मन को भ्रष्ट प्रवाह[४]॥१२१०॥

मगन प्रशन्सा से नहीं, हो भूलें निज धर्म।
निन्द-विकल हो, लक्ष्य से, हटें न करें विकर्म॥१२११॥

डींगें बड़ी न हाँकना, करना पर बड़ काम।
जन-मंगल जो हो सके, जग का रूप अघाम[५]॥१२१२॥

उर में उसके आपको, बिठा सके पथ एक।
जो प्रिय, उसे अमूल्य हों, कर उन शन्स अनेक॥१२१३॥

पाप पुण्य का ज्ञान दे, दुख में बने सहाय।
गुण ही गाता मित्र के, सच्चा मित्र कहाय॥१२१४॥

---

१. क्रान्ति-पूर्ण परिवर्तन; २. मर्म-सार; ३. सत्त्व-विशेषताएँ, शक्ति, बुद्धि; ४. प्रवाह-व्यवहार; ५. घाम-विपत्ति।

सम्बन्धों को जोड़ने, हेतु, हेतु[1] विश्वास।
किन्तु तोड़ने में रहें, कटु अनुभव आभास॥१२१५॥

करना सेवा दुष्ट की, कोपन अत्याचार।
पर-अवमानन[2], मीत से, अनबन नहीं सुखार[3]॥१२१६॥

जिससे प्राणी मात्र को, हो संरक्ष प्रदान।
वही चेत धर चित्त में, बन सबका कल्यान॥१२१७॥

देहर वह तू त्याग दे, मिले जहाँ से ताप।
श्रेयपूर्ण जीवन बने, सुखमय हो तब आप॥१२१८॥

चिन्ता सोचे, स्वयम् की, मन को रखे दुखार।
ईर्ष्या, अन की सोचती, करे उरस् निज क्षार॥१२१९॥

बुरे हाथ पा आग से, कर दें, सब कुछ स्वाह।
दुरुपयोग तस नाश दे, सन्साधन का आह!॥१२२०॥

घृणा क्रोध आलोचना, करने से हों प्राप।
शन्स मान पर पा सकें, देकर प्रत्युत आप॥१२२१॥

जब धन बल सत्-कर्म में, लगें, करें कल्याण।
पर लग करें प्रमोद में, नरक-कर्म निर्माण॥१२२२॥

निठुर-स्वार्थ छल-निर्दयी, निन्द, दण्ड नहिं पाव।
विलग रहे इनसे बने, तब नर शुभ्र सुभाव॥१२२३॥

देना पाना सृष्टि में, ही है, सूक्ष्म निहार।
तस नर देकर पा सके, जीवन में अधिकार॥१२२४॥

कलुष असंयम दुष्टता, पग पग में अन्याय।
ऐस छाय भी दे सके, हानि पराभव साय[4]॥१२२५॥

---

१. हेतु-कारण, साधन; २. अवमानन-अनादर; ३. सुखार-सुखमय;
४. साय-अन्त, अनादर, विनाश।

लालच संग्रह भोग का, अनुपयुक्त व्यामोह।
मनो-आत्म नर-रूप का, धृष्ट मैं[1] करे दोह[2]॥१२२६॥

मद-वश कर, तुलना नहीं, समझ किसी को हीन।
थितियाँ बड़ बलवान् हैं, नृप को कर दें दीन॥१२२७॥

अच्छा, देना पेट को, सह लेना खा चोट।
नीक न पर धन पाप का, गाली देना ठोट[3]॥१२२८॥

अन से तस मिलता, करें, जस उससे व्यवहार।
सो क्यों, दुख अपमान दे, मिल सकता उपकार[4]॥१२२९॥

उन्नत अवनत स्वयम् को, करता स्वयम् पुमान्।
चुन थितियाँ गढ़ता वही, क्योंकि स्वहित[5] सोपान॥१२३०॥

दे, गरिमा व्यक्तित्व को, यथा-मौन की साध[6]।
सजग! किन्तु वाचलता, तिरस्कार अपराध॥१२३१॥

बोया जैसा बीज है, उपज उसी सी पाव।
सुख दे, औरों से करें, सो ऐसा बरताव॥१२३२॥

बहु-व्यय वेश-विचित्रता, कृत्रिमता शृंगार।
शीघ्र घृणा उपहास का, पाते जग-व्यवहार॥१२३३॥

सरस-वचन कृत-शुद्धता, स्वास्थ्य कर्म-आगार।
सरल वस्त्र, सौन्दर्य को, देते बढ़ा अपार॥१२३४॥

नहिं वैभव पर दृष्टि में, शन्सा का आधार।
वरन् शन्स्य, जन-हेतु में, बनता जब उपकार॥१२३५॥

निरत सर्व शुभ-हित रहे, पण्डित वही सतर्क।
वरन् वह नहीं जो करे, बात बात पर तर्क॥१२३६॥

---

१. मैं-अहम्; २. दोह-शोषण; ३. ठोट-मूर्ख; ४. उपकार-भला; ५. स्वहित-अपने लिये लाभदायक; ६. साध-साधना।

दे विप्लव[1] दुर्भिक्ष में, विघ्नों में, सहयोग।
वह अपना, नहिं जो करे, प्रत्युत आस प्रयोग॥१२३७॥

जितनी क्षमता योग्यता, उतन अवसि दें मान।
इससे उसमें प्रेरणा, जगे, पाव उत्थान॥१२३८॥

प्रगति आत्म-बल प्राप हों, कर गुरुजन का मान।
युक्त सभी को मान दे[2], किन्तु मिटे अभिमान॥१२३९॥

करे प्राप-उपकार का, मन से प्रत्युपकार।
फिर भी माने[3] सर्वदा, उस-दय का आभार॥१२४०॥

जिनमें निश्चय वीरता, आत्मशक्ति उद्योग।
स्वयम्-जीविका हेतु हों, चिन्तित नहिं वे लोग॥१२४१॥

आशा रोपें चित्त में, हटा अलस की घास।
तब पोषण पुरुषार्थ का, दे वाञ्छित उल्लास॥१२४२॥

विलग रहे षट्-दोष से, चित विकसे सद्ज्ञान।
तुष्ट रहे सबको करे, प्रेरण हर्ष प्रदान॥१२४३॥

पाकर विद्या बुद्धि से, मति विद्या अनुसार।
चरणों पर चल शिष्ट के, मिलते हैं परिहार॥१२४४॥

करे विमुख कर्तव्य से, निज शन्सा की भूख।
शन्स मिले नहिं शन्स्य को, थिति दे हीनत रूख[4]॥१२४५॥

सुगुण वृद्धि करती, घटे, दुर्गुण कलुषइ[5] ह्रास[6]।
की गई सत्-शन्सा जने, ठोस आत्मविश्वास॥१२४६॥

चुप रहना है योग्यता, रखें उदर में भेद।
न तु हीरक खो जैस हो, उससे अधि हो खेद॥१२४७॥

---

१. विप्लव-संकट; २. दे-देकर; ३. माने-मानना चाहिए; ४. रूख-स्वभाव में कटुता; ५. कलुषइ-अपवित्रता; ६. ह्रास-अवनति, पतन।

स्वयम् शक्ति सामर्थ्य का, कर उदार उपयोग।
न कर किसी की हेलना, न रच कभी अपयोग[1]॥१२४८॥

आचारों में सौम्यता, सद्-चित से सत्कार।
परिवर्तन करके रहे, उर में, हटा विकार॥१२४९॥

नहीं किसी को भी करे, कर्मों से भयभीत।
उसके ही उत्पन्न हो, उर में साँची प्रीत॥१२५०॥

धन-अर्जन श्रम से करे, दे विपदा को हार।
ऐस प्राप यश, दे उसे, पग पग सुगति-उभार[2]॥१२५१॥

पल पल अस्थिर हो रहे, जब विश्वास विचार।
भले अहित तब हो, करें, खोज सत्य व्यवहार॥१२५२॥

दुखद! बात व्यवहार का, है अश्लील प्रयोग।
ज्ञात दोष भी और के, कभी न कर अनुभोग[3]॥१२५३॥

धन-क्षय दुख निज-योजना, घर के दुष्ट चरित्र।
ज्ञानी[4] निज-अपमान को, कहते कभी न मित्र॥१२५४॥

चित में अन्धे स्वार्थ से, मरे भाव परमार्थ।
सधे सर्व-हित, साधना, सो उतना ही स्वार्थ!॥१२५५॥

प्रमुख रखे नहिं स्वार्थ को, पूज्य जिसे परमार्थ।
मानवता हित जय सके, उसका ही पुरुषार्थ॥१२५६॥

अवसि और की धैर्य से, सुन, क्यों वह विक्षुब्ध।
घट दुख, इस लघु-प्रेम से, बन वह सके विलुब्ध[5]॥१२५७॥

विभु की ही है, सो रखें, नर-हित सेवा-यास।
जीवों में, हो[6] चेतना, क्योंकि उसी का वास॥१२५८॥

---

१. अपयोग-कुचाल; २. उभार-उच्च ओर बढ़ाना, बढ़ाने की क्रिया; ३. अनुभोग-सुख-स्वाद लेना; ४. ज्ञानी-बुद्धिमान; ५. विलुब्ध-शान्त, बिना घबराया; ६. हो-होकर।

अपनी चिन्ता भूलना, करना पर-सहयोग।
उर में पावनता भरे, ऐसा चरित सुयोग॥१२५९॥

दे अन्यों की चाह को, निज रुचियों में थान।
नग सम थिर-सिद्धान्त हो, पाव समुन्नति मान॥१२६०॥

आत्म-परीक्षा कीजिये, प्रतिदिन समय निकाल।
जिससे कृत्याकृत्य क्या, समझ सकें तत्काल॥१२६१॥

जीवन-भर कर्तव्य है, केवल आत्म-सुधार।
निरत हटा अज्ञान के, सो चित जने विकार॥१२६२॥

कर व्यापारिक दृष्टि को, सीमित, सद्‌गुण सीख।
हीय-पसीजा, सो बना, अपन मानवी दीख॥१२६३॥

चित में उसी विचार का, कर विकास, दे वास।
हों जिसके आचार में, जग सहमति विश्वास॥१२६४॥

जग मंगल के भाव की, रखना सदा उमंग।
क्योंकि आत्म-बल का यही, दे अनुदान प्रसंग[१]॥१२६५॥

करें न्याय निस्स्वार्थ से, चेष्टा का निर्माण।
तब ही पर-हित में किया, बनता है कल्याण॥१२६६॥

रहना व्यक्ति विचार से, हट, जो भरें निराश।
न तु भविष्य हो अन्ध सा, जीवन पाव विनाश॥१२६७॥

मन रक्षा से स्वयम् ही, रक्षित होय शरीर।
रक्षित तन ही दे सके, पर मन सुन्दर हीर[२]॥१२६८॥

इकले रहना ठीक है, संगति भली न नीच।
दूध दही भी कीच में, न तु मिल बनता कीच॥१२६९॥

---

१. प्रसंग-अवसर; २. हीर-उत्तमता।

रहे शब्द में भाव की, शक्ति, व्यक्ति[1] अनुकूल।
सो कर शब्द प्रयोग वे, चुभें न जो बन शूल॥१२७०॥

कर जो अन्यों में सके, प्रबल चाह उत्पन्न।
प्रेम रखे उसके रहे, जग आसन्न प्रसन्न॥१२७१॥

माननीय सा कीजिए, दुष्टों से व्यवहार।
अपनापन तब कर सके, उनमें इष्ट सुधार॥१२७२॥

करना निज सामर्थ्य से, पिछड़ों का उत्थान।
पूँजी की है ईश ने, यह, इस हेतु प्रदान॥१२७३॥

क्षुधितों को सद्भाव से, करना तृप्त प्रसन्न।
दे पुलकन आनन्द की, हटता मनस्-विपन्न[2]॥१२७४॥

पिछड़े को उत्कर्ष का, बल जो दे सहयोग।
है वह तव सामर्थ्य का, सर्वोत्तम उपयोग॥१२७५॥

देते मधु-कटु-भाव से, महापुरुष फटकार।
यही परम-कल्याण के, होते पथ सो धार॥१२७६॥

जीवों प्रति रखना दया, मित्र-भाव आभास।
अविषय-मन तब दे सके, उर में थिर-शम वास॥१२७७॥

औषधि धीरज सी नहीं, दया सरिस नहिं दान।
विद्या सी नहिं सम्पदा, शोभ[3] न सुयश समान॥१२७८॥

आशा सर्जन कल्पना, दूर-दृष्टि श्रम-यास।
उत्साहक हैं, सर्वदा, विकसें, रख-विश्वास[4]॥१२७९॥

नहीं सखा सम्बन्ध में, निभता स्वेच्छाचार।
मर्म-भेद के सो तजें, वचन, कर्म-प्रतिहार[5]॥१२८०॥

---

१. व्यक्ति-अभिव्यक्ति; २. विपन्न-भाग्यहीन; ३. शोभ-आभूषण;
४. रख-विश्वास-इन पर विश्वास रख; ५. प्रतिहार-धोखा, चालाकी।

करता नहिं सहता नहीं, जीवन में अपमान।
अस अन्तः, निश्चित करे, कुछ जग-हेतु महान्॥१२८१॥

न शिव परिस्थिति बाहरी, न ही कोउ द्यौ[१] थान।
वरन् परिष्कृत दृष्टि है, सो रे विकस पुमान्॥१२८२॥

जीवन अन्यों सा जिएँ, रह सुख दुख में साथ।
उन-श्रद्धा का पा सकें, तभी दुलारा हाथ॥१२८३॥

अपने साथ समाज की, रखता आन सु-मान।
उनें प्रेम सद्भाव दे, जग का वह धनवान्॥१२८४॥

समझाया शीतल किया, जिसने मनस् स्वभाव।
जग का कभी न व्यापता, तपता उसे प्रभाव॥१२८५॥

पा सकता, दे भी सके, जग-भर को सुख नन्द।
चल उस पथ पर सत्य के, जिसमें एक न द्वन्द॥१२८६॥

आवश्यक नहिं पास हों, अति पौरुष धन-धान।
अवसि सर्व-शिव हेतु हो, पर मनुता विदमान॥१२८७॥

होना पर-दुख से दुखी, 'सञ्चय-रुचि' का काल।
पर पर-सुख से हो सुखी, मिटे भोग की लाल॥१२८८॥

लगा सर्व-कल्याण में, कर सुकर्म से प्राप्त।
तब तव मन से हो सके, धन का मोह समाप्त॥१२८९॥

वेष धरे नहिं ढीठ का, डींग न हाँके वीर।
कटु-वच रिस में भी न हों, जग-प्रिय वह गम्भीर॥१२९०॥

आस न रख कुछ और से, पर कर पर सहयोग।
आजीवन सुख दे सके, मात्र यही उद्योग॥१२९१॥

---

१. द्यौ-स्वर्ग।

रहे कष्ट में और के, जो सम्वेदनयुक्त।
जग-जीवन उसका रहे, सबका प्रिय दुख-मुक्त॥१२९२॥

प्रतियोगी से श्रेष्ठता, पा, बिन नीच उपाय।
जग ही नहिं निज-दृष्टि में, तभी मान रह पाय॥१२९३॥

जुड़ीं सर्व-अनुभूतियाँ, वृत्ति विकल्प विचार।
मन सत् रख सो, देह का, थामे[1] मनुज-प्रभार[2]॥१२९४॥

संयम वचन विचार का, रखे अहिन्सा अर्थ।
यही परम कर्तव्य है, सत् सम पूज्य समर्थ॥१२९५॥

दान तोष दय नम्रता, संयम पश्चात्ताप।
सदाचार, जग में रखें, नर-मन शान्त अपाप॥१२९६॥

स्वयम् ढूँढना साँच को, पढ़ सब चाल प्रतीक।
चलना तब दे आप में, महापुरुष निर्भीक॥१२९७॥

बनना पीड़ाग्रस्त का, बढ़कर सदा सहार।
जीवन को सेवा यही, दे उत्कर्ष अपार॥१२९८॥

अद्भुत लौकिक साँच है, इक छोटा सा गीत।
अजय मिथ्य को, पर मिले, सत् को पग पग जीत॥१२९९॥

जो हड़पे पर-स्वत्व को, नृप भी है वह रङ्क।
अधिप-परम पर, ले लगा, जो दुखियों को अंक॥१३००॥

समझ वस्तु-उपयोगिता, व्यय से पूर्व पुमान्।
क्योंकि विवर देता डुबो, भले एक, जलयान॥१३०१॥

रखे दृष्टि उद्भावना[3], निज-स्वरूप प्रति जोय[4]।
उस जीवन की जीवनी, मृदु कर्कश तस होय॥१३०२॥

---

१. थामे-सँभाले; २. मनुज-प्रभार-मनुज होने का दायित्व;
३. उद्भावना-कल्पना; ४. जोय-जैसी।

मूल्यांकन एकान्त में, कर निज अवसि अपक्ष।
तब दिप चढ़ती-सीढ़ियाँ, खोलेंगी तव अक्ष॥१३०३॥

दूरदर्शिता दक्षता, संयम धृति उद्योग।
उन्नति स्रोत सतर्कता, करें सदा उपयोग॥१३०४॥

जीवन उसका सर्वदा, रहता स्वर्ग समान।
बालक सा निर्मल रखे, मन जो कर्म-विधान॥१३०५॥

शुभ-आचारी संयमी, रसना-बोल रसाल।
उस उर विग्रह दीनता, रहे न पापी लाल॥१३०६॥

आत्म-तोष कर्तव्य की, चेत, निरत सहयोग।
सर्वादर सत्-चिन्तना, गढ़ते सुफल सुयोग॥१३०७॥

बिखरें चन्दन मञ्जरी[१], जस सुगन्ध सौन्दर्य।
तस प्रमोद-उल्लास का, कर वितरित माधुर्य॥१३०८॥

मानव आश्रित ही रहे, पाने तक तारुण्य।
दे थिति यह सन्देश, रे!, जीवन सेवा पुण्य॥१३०९॥

प्रिय सहिष्णु बनते, रखें, नम्र मृदुल व्यवहार।
उन जीवन-यात्रा रहे, सरल सुखद सुविचार॥१३१०॥

सदाचार, विद्वान का, आदर, नैतिक-राग।
नर में पुरुष-विशिष्टता, भरें, जगायें भाग॥१३११॥

डर सामाजिक-धर्म से, करे नहीं अपनीत।
उसका जीवन सर्वदा, होता अभय व्यतीत॥१३१२॥

मृत्यु रोग सत्संग के, समय बनें जो भाव।
जीवन निर्मल पा सकें, कर वैसा बरताव॥१३१३॥

---

१. मञ्जरी-कोंपल।

जीवन-विद्या के लिए, अति महत्त्व का पाठ।
नहिं पा जय मन-मत्त हो, नहिं पा अपजय काठ[1]॥१३१४॥

सद्-संगत सेवा करें, दया दान उपकार।
हैं नर-जीवन हेतु के, ये कल्याणक सार॥१३१५॥

ढलते, जस आदर्श हों, प्रतिभा चित-थायित्व।
रख विचार! वामन न हो, अतः महा व्यक्तित्व॥१३१६॥

निर्मल दुख से 'ही' बने, विकसे श्रम मनुजत्व।
प्रेम करें, जग में यही, प्रेम योग्य दो तत्त्व॥१३१७॥

कठिनाई अन की करें, हलकी, कर सहयोग।
सच में नीक महान हैं, जग में वे ही लोग॥१३१८॥

हो जितना नय वृत्ति का, स्वाभाविक विस्तार।
उतना सहयोगी बने, शुभ-रक्षक संसार॥१३१९॥

समता स्नेह उदारता, कृत में स्वार्थ अभाव।
दे औरों के स्वयम् से, सुलझा सब उलझाव॥१३२०॥

दो में साँचे प्रेम से, जो सुख हो उद्भूत।
वही दिशा दे कर सके, जगत् कर्म को पूत॥१३२१॥

जब लिप्सा को दें हटा, श्रद्धा को दें ठाँव।
तभी प्रखर गतिशील हों, दबी चेत के पाँव॥१३२२॥

संयम सेवा साध ले, सदाचार स्वाध्याय।
लक्ष्य आत्म-उत्थान का, सहज सुलभ तब ताय॥१३२३॥

निज गुण ही हैं, मानना, जीवन हेतु निचोड़।
बढ़ते[2], कटुता दूरियाँ, कलह, नात सब तोड़॥१३२४॥

---

१. काठ-शोक से जड़वत; २. बढ़ते-बढ़ाते हैं।

नियति न अन कुछ, स्वयम् के, कर्मों का परिणाम।
सो करनी अनुसार ही, मिले नियति को नाम॥१३२५॥

जीवन करना है, मिले, जिससे सुख विश्रान्ति[1]।
तब वह-कर सब पा सकें, तुझ सँग जो सम शान्ति॥१३२६॥

जीवन इक कर्तव्य है, निभा, समझ नहिं भार।
समझ! इसी से जन्म ले, नर से नर का प्यार॥१३२७॥

उगा सकें जो दे सकें, सुविचारों को पोष।
संस्कृत बन सब भाँति वे, पाते जीवन तोष॥१३२८॥

हो, सशक्त होकर, क्षमी, निर्धन हो दे दान।
उनें ब्रह्म-पद में मिले, इसी जन्म में थान॥१३२९॥

आत्म-तेज से पूर्ण हो, सत्यज-रूप समर्थ।
सो सब कारण त्याग दे, करें पतित जो व्यर्थ॥१३३०॥

सज्जनता, सौजन्य की, होती प्रति व्यवहार।
सो बरतें जो ला सके, औरों में उजियार॥१३३१॥

हो चित में सौन्दर्य का, उमड़ा प्रादुर्भाव[2]।
जग जग-जीवन चारुता, तब ही नर लख पाव॥१३३२॥

सदाचार-व्रतशीलता, निभा, बनें जीवन्त।
क्योंकि सुखद जग को दिशा, दे जाते गुणवन्त॥१३३३॥

जो गुण कर्म स्वभाव से, करे युक्त उत्कृष्ट।
सत् शिव सुन्दर को जिए, वह रह जग में हृष्ट[3]॥१३३४॥

सर्व कुटिलता चित्त की, धोना सर्व-विकार।
आत्मा मन धी दृष्टि हों, तब ही विमल सुतार[4]॥१३३५॥

---

१. विश्रान्ति-आराम; २. प्रादुर्भाव-प्रकट होना; ३. हृष्ट-प्रसन्न, हर्षित; ४. सुतार-अत्युच्च।

रखें विश्व कल्याण में, जो कृत निज विश्वास।
हैं वे पूज्य प्रतीक, हो, जिनसे धरनि उजास॥१३३६॥

परिवर्तन कर भाव में, जब नर भरे विलम्भ[1]।
नवयुग सभ्य समाज की, हो रचना आरम्भ॥१३३७॥

दुर्गुण सभी उघाड़ दे, स्वतः करें निर्याण[2]।
तब रीते मन में मिले, मानवता को त्राण॥१३३८॥

करना पूत विनीत हो, भाषा प्रज्ञावान्।
बन कोई तब ही सके, चूड़ामणि[3] नर-मान॥१३३९॥

मन विवेक वैराग का, धीरज तोष अपार।
जीवन वह सुख शान्ति का, बन रहता आगार॥१३४०॥

जैसे हैं वैसे दिखें, करें, बनें जो श्रेष्ठ।
जीवन लक्ष्यों का यही, लक्ष्य, मात्र है ज्येष्ठ[4]॥१३४१॥

करना सबसे नीक है, प्रातः सोचें आज।
उनको निश्चित दें बना, महापुरुष तब काज॥१३४२॥

रहा न, स्वेच्छाचार हो, जब कदापि दिक्-भ्रान्त।
मन, जीवन की साँझ में, तब हो निर्मल शान्त॥१३४३॥

व्रत सहिष्णुता, प्रेम है, जीवन, त्याग स्वभाव।
दान, धर्म जिस आँख का, स्वर्ग-ज्योति वह पाव॥१३४४॥

रख समाज-हित दृष्टि में, नियत करें निज ध्येय।
उनमें मनुज-विशेषता, उभरे स्वतः विधेय॥१३४५॥

आभा निखरे सृष्टि की, रचे सुखद संसार।
अन्तः, व्यक्ति समाज का, जब धारे सुविचार॥१३४६॥

---

१. विलम्भ-औदार्य, उदारता; २. निर्याण-बाहर जाना; ३. चूड़ामणि-सर्वश्रेष्ठ, अग्रगण्य; ४. ज्येष्ठ-प्राण।

डॉ० राम स्वरूप आर्य, बिजनौर
की स्मृति में सादर भेंट—
हरप्यारी देवी, चन्द्रप्रकाश आर्य
संतोष कुमारी, रवि प्रकाश आर्य

सात्विक रहती है सदा, जिनकी अपनी सोच।
सभी समय उनके लिये, है सतयुग बिन दोच[1]॥१३४७॥

उत्तमता का दृष्टि में, समावेश ही स्वर्ग।
सो त्यागें निज सोच से, कुत्सित पापी सर्ग[2]॥१३४८॥

प्रकट दृश्य संसार में, कर्म वस्तुतः सार।
सो कर रुचिता[3] पा सकें, जो कि सृष्टि संसार॥१३४९॥

चित-शम संयम सत्यता, सज्जनता सन्तोष।
व्याप कर्म में हों बने, द्यौ सम धरा अदोष॥१३५०॥

लन्द-फन्द छल-छन्द है, है प्रपञ्च संसार।
पर पर-शिव सत् धर्म है, स्वर्ग धरा पर प्यार॥१३५१॥

सद्-चरित्र चित-सुष्ठुता, समरस-जीवन सर्म[4]।
अमर बनें, पर-हेतु में, सो कर अर्पित कर्म॥१३५२॥

मन में अपने दे दिया, जब जग-मन को वास।
तब बल अन्तर का, हरे, मानवता का त्रास॥१३५३॥

नर-जीवन में धर्म का, है इतना सा सार।
पीर न दे, पर पीर में, कर सेवा उपकार॥१३५४॥

मातृभूमि उत्कर्ष में, योग करूँ निस्स्वार्थ।
प्रभु मुझको पुरुषार्थ, दें, साहस सत् परमार्थ॥१३५५॥

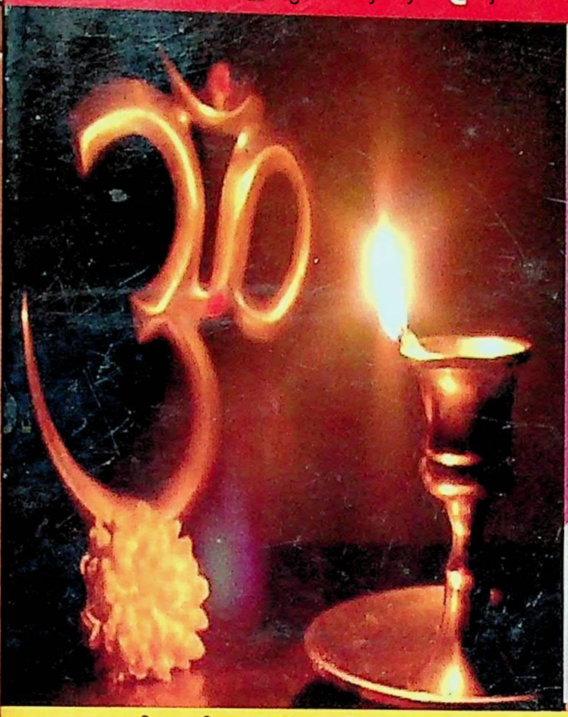
यश, धन, दास, न लालसा, प्रभु दें स्वास्थ्य अपार।
यदि जन्मू तो प्रार्थ, दें, नित्य निरत निज प्यार॥१३५६॥

अन्तिम एष व्यतीत हो, साई में रम काल।
वही एक सबमें दिपें, और मिटें सब लाल॥१३५७॥

---

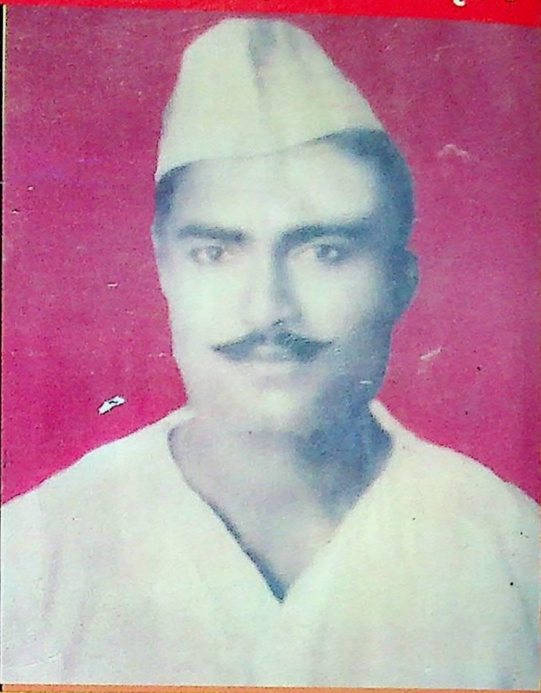
१. दोच-क्लेश; २. सर्ग-स्वभाव, प्रकृति; ३. रुचिता-सुन्दरता;
४. सर्म-स्वर्ग।

प्रत्यक्ष-ब्रह्म पूज्य माँ की स्मृति में



सागर की गम्भीरता, भू का चित्त उदार।
है माँ, माँ के रूप में, विभु का पावन प्यार॥

क्षेमंकर, [illegible] पूज्य पिताश्री की स्मृति में



मंगल प्रहरी ईश सा, कुम्भकार निर्भीक।
है सद्गुण सम्वृद्धि का, श्रम का पिता प्रतीक॥

ब्रह्माण्ड-नायक परब्रह्मश्री सत्य साई प्रभु को समर्पित



सुखदा , नाशक मृत्यु के, प्रभु के पद-पाथोज (कमल)।
उनें प्रतिष्ठित चित्त में, सो कर, पा सत्-ओज॥

रचयिता



सुपथ सुकर्मों में जगा, चेत, बढ़ें जब पाँव।
पा तब सकते इष्ट की, प्राण छाँव में ठाँव॥